मासिक समाचारपत्र • वर्ष 1 • पूर्णांक 8 • अंक 9 • जुलाई 2011 • पाँच रुपये • सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

बेहिसाब बढ़ती महँगाई सरकार की लुटेरी नीतियों का नतीजा है

यह ग़रीबों के ख़िलाफ सरकार के लुटेरे युद्ध के समान है

सम्पादकीय डेस्क

पिछले कुछ वर्षों से खाने-पीने और बुनियादी ज़रूरतों की चीज़ों की महँगाई बेरोकटोक बढ़ रही है। इस महँगाई ने देश की तीन-चौथाई से भी अधिक आबादी के सामने जीने का संकट पैदा कर दिया है। सब्ज़ियों से लेकर अनाज और दूध तक के बेहिसाब बढ़ते दामों ने मेहनतकश जनता के साथ-साथ निम्न मध्यवर्गीय आबादी तक के लिए पेटभर पौष्टिक खाना खा पाना दूभर बना दिया है। पिछले 2-3 वर्षों के दौरान कई बार पेट्रोल-डीज़ल और रसोई गैस के दामों में की गयी बढ़ोत्तरी ने लोगों की कमर पूरी तरह तोड़कर रख दी है। सरकार ने अभी से कह दिया है कि दिसम्बर तक महँगाई से कोई राहत नहीं मिलने वाली है। दिसम्बर के बाद भी, महँगाई और मुद्रास्फीति के आँकड़े भले कम हो जायें, आम लोगों के लिए रोज़मर्रा के इस्तेमाल की चीज़ों के दाम कम होने की ज़्यादा उम्मीद नहीं है।

इतनी बड़ी आबादी के लिए जीने का संकट पैदा करने वाली महँगाई अब अख़बारों और टीवी चैनलों की सुर्ख़ियों से बाहर हो चुकी है। दरअसल उच्च मध्य और खाते-पीते मध्य वर्ग की आमदनी में पिछले कुछ समय से लगातार जो बढ़ोत्तरी हो रही है उसके कारण उन पर इस महँगाई का ज़्यादा असर नहीं होता। दूसरे, इस वर्ग की आमदनी का एक छोटा-सा हिस्सा ही खाने-पीने की चीज़ों पर खर्च होता है। इसकी आमदनी का बड़ा हिस्सा मनोरंजन, कपड़ों, टीवी-ओवन-फ्रिज जैसे सामानों आदि पर खर्च होता है। मगर इस महँगाई ने ग़रीबों के लिए तो जीना दूभर बना दिया है।

इस महँगाई ने देश की भारी आबादी के लिए हालात कितने मुश्किल कर दिये हैं इसका अन्दाज़ा लगाने के लिए बस इस तथ्य को याद कर लेना ज़रूरी है कि देश के लगभग 90 करोड़ लोग सिर्फ 20 रुपये रोज़ाना पर गुज़ारा करते हैं। इनमें से भी लगभग एक तिहाई आबादी तो महज़ 11 रुपये रोज़ पर जीती है। सरकार का योजना आयोग कहता है कि जो व्यक्ति शहर में 17 रुपये रोज़ और देहात में 12 रुपये रोज़ खर्च कर सकता है वह ग़रीब नहीं है। देश के 44 करोड़ असंगठित मज़दूरों पर महँगाई की मार सबसे बुरी तरह पड़ रही है। शहरों में करोड़ों मज़दूर उद्योगों में 10-10, 12-12 घण्टे काम करके 2000 से 3000 रुपये महीना कमा पाते हैं। इसमें से भी मालिक बात-बात पर पैसे काट लेता है। लगभग एक तिहाई से लेकर आधी मज़दूरी मकान के किराये, बिजली, बस भाड़े आदि में चली जाती है। बाकी लगभग सारी कमाई किसी तरह पेट भरने में चली जा रही है। दालें तो ग़रीबों के भोजन से पहले ही ग़ायब हो चुकी थीं अब आलू-प्याज़-टमाटर जैसी सब्ज़ियाँ भी खा पाना उनके लिए मुश्किल होता जा रहा है।

गुजरात के पाँच ज़िलों में ग़रीबों के परिवारों के बीच एक संस्था के सर्वेक्षण के अनुसार महँगाई के कारण आमदनी का 74 प्रतिशत खाने-पीने पर खर्च हो जाता है। पहले जो परिवार सुबह नाश्ता, फिर दिन और रात का खाना खाते थे उनमें से 60 प्रतिशत अब दिन में सिर्फ दो बार खाते हैं। 57 प्रतिशत लोग बहुत ज़रूरी होने पर ही डॉक्टर के पास जाते हैं। 40 प्रतिशत परिवारों में चाय के लिए दूध का इस्तेमाल बन्द हो गया है। महँगाई के कारण बहुत से लोग बस आदि के बजाय कई-कई किलोमीटर पैदल चलकर काम पर जाते हैं।

ऐसी भीषण महँगाई के पहले ही हालत यह थी कि देश की तीन-चौथाई आबादी के भोजन में विटामिन और प्रोटीन जैसे ज़रूरी पौष्टिक तत्व लगातार कम होते जा रहे थे।

(पेज 14 पर जारी)

सलवा जुडुम के ख़िलाफ़ उच्चतम न्यायालय का फ़ैसला

जनता के विरुद्ध सरकार के आतंकवादी युद्ध की सच्चाई एक बार फिर बेपर्दा

पिछली 5 जुलाई को उच्चतम न्यायालय ने सलवा जुडुम को भंग करने का आदेश देते हुए छत्तीसगढ़ सरकार और केन्द्र सरकार को कड़ी फटकार लगायी है। जजों ने छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा आदिवासी नौजवानों की विशेष पुलिस अधिकारी (एस.पी.ओ) के रूप में भरती को असंवैधानिक बताते हुए उस पर रोक लगा दी है।

अदालत ने प्रोफेसर नन्दिनी सुन्दर, इतिहासकार रामचन्द्र गुहा और पूर्व आई.ए.एस. अधिकारी ई.ए.एस. सरमा की जनहित याचिका पर यह फैसला दिया। याचिका के अनुसार सलवा जुडुम के लोग कम से कम 537 हत्याओं, 99 बलात्कारों, आगज़नी की 103 घटनाओं और 644 गाँवों को जलाकर उजाड़ देने के लिए ज़िम्मेदार हैं। (हालाँकि 'मेनस्ट्रीम' पत्रिका के हाल के अंक में छपी रिपोर्ट के अनुसार सलवा जुडुम के लोगों द्वारा 2005 से लेकर अब तक 700 गाँवो में लगभग 1500 से अधिक बेगुनाह लोगों की हत्या की जा चुकी है, हज़ारों आदिवासी महिलाओं के साथ बलात्कार किया गया है, कई जगह खेतों में खड़ी फसलों को आग लगाकर तबाह करने और गाँवों में लूटपाट करने जैसी अनेक घटनाएँ हुई हैं।)

अपने फैसले में जजों ने सरकार की नव-उदारवादी नीतियों पर कड़ी टिप्पणी करते हुए कहा है कि सरकार द्वारा लागू की जा रही सामाजिक और आर्थिक नीतियों के कारण समाज भयानक असमानता से ग्रस्त है। ये नीतियाँ जनता के साथ बलात्कार के समान हैं। उन्होंने कहा, "एक ओर राज्य निजी क्षेत्र को सब्सिडी देता है, उसे टैक्सों में एक के बाद एक रियायत देता है, जबकि साथ ही साथ वह सामाजिक कल्याण के उपायों के ज़रिए ग़रीबों को सहारा देने की अपनी ज़िम्मेदारी पूरी न करने के लिए संसाधनों की कमी का रोना रोता है। दूसरी ओर, राज्य ग़रीबों के बीच फैले आक्रोश और असन्तोष का मुक़ाबला करने के लिए ग़रीबों के बीच से ही कुछ युवाओं के हाथों में बन्दूकें थमा रहा है।"

यह वही सलवा जुडुम है जिसके पक्ष में केन्द्रीय गृहमंत्री चिदम्बरम और छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री रमन सिंह से लेकर छत्तीसगढ़ के डीजीपी विश्वरंजन तक तरह-तरह के तर्क देते रहे हैं जबकि एक के बाद एक मानवाधिकार संगठनों और खुद सरकार के आयोगों की रिपोर्टें उसकी बर्बर सच्चाई को उजागर करती रही हैं। किस प्रकार आदिवासी आबादी के एक छोटे-से हिस्से को हथियारबन्द करके माओवादियों से लड़ने के नाम पर आबादी के बड़े हिस्से के ख़िलाफ़ खड़ा करके पूरे क्षेत्र में गृहयुद्ध जैसी स्थिति पैदा कर दी गयी है। लाखों आदिवासियों को उनके गाँवों से उजाड़कर कैम्पों में रहने पर मजबूर कर दिया गया है। यह भी साफ हो चुका है कि इस बर्बर अभियान के पीछे असली मकसद आदिवासियों के उन सैकड़ों गाँवों को खाली कराना था जिनके नीचे की ज़मीन में खरबों डालर की खनिज सम्पदा छिपी है। यही कारण था कि टाटा और एस्सार ग्रुप सलवा जुडुम के मुख्य फ़ायनेंसर थे। खुद भारत सरकार की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि यह अभियान अमेरिका में कोलम्बस द्वारा मूल निवासियों को उजाड़ने के बाद ज़मीन हड़पने का सबसे बड़ा अभियान है।

चिदम्बरम, रमन सिंह और विश्वरंजन में अगर ज़रा भी शर्मोहया होती तो उच्चतम न्यायालय के इस फ़ैसले के बाद उन्हें इस्तीफ़ा दे देना चाहिए था। मगर उनसे यह अपेक्षा करना भी बेकार है।

सवाल केवल छत्तीसगढ़ सरकार की नीतियों का नहीं है। पिछले 20 साल से जारी नवउदारवादी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक नीतियों के तहत विकास के नाम पर देशी-विदेशी कम्पनियों कौड़ियों के मोल ज़मीनें और अन्य सुविधाएँ बेची रही हैं, रहे-सहे श्रम कानूनों को भी ढीला बनाकर मनमानी शर्तों पर मज़दूरों की श्रमशक्ति निचोड़ने की छूट दी जा रही है और देश के ग़रीबों से उनकी आजीविका के साधन छीनकर उन्हें सड़क पर धकेला जा रहा है। यह एक परोक्ष युद्ध के समान ही है, जो लगातार जारी है ।

इन नीतियों को लागू करते हुए सत्ता ज़्यादा से ज़्यादा उत्पीड़नकारी होती गयी है और उसका दमन और भी बर्बर तथा क्रूर होता गया है। सत्ता तंत्र की खुली हिंसा के अतिरिक्त रोज़मर्रा के जीवन में आम ग़रीबों को जिस ढाँचागत हिंसा का सामना करना पड़ता है वह भी ज़्यादा सुव्यवस्थित और आक्रामक होती गयी है।

बहरहाल, छत्तीसगढ़ में जब सलवा जुडुम, एस.पी.ओ. और कोया कमाण्डो अपने उद्देश्य में सफल होते हुए नहीं दिखे तो 2009

(पेज 12 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

संघर्ष ईमानदार-बहादुराना होगा तो समाज के अन्य तबके भी मज़दूरों का साथ देंगे

बिगुल में गोरखपुर मज़दूर गोली काण्ड के बारे में विस्तार से पढ़ा। यह गोलीकांड यही ज़ाहिर कर रहा है कि देश का पूँजीपति वर्ग कितना बौखलाया हुआ है। मज़दूरों पर गोली चलवाना, बेगुनाहों को जेलों में ठूँसना, उन पर मुकदमे दर्ज करवाना यही साबित करता है कि पूँजीपति, प्रशासन और सरकार सब आपस में मिले हुए हैं।

बहादुराना संघर्ष लड़ने वाले मज़दूरों के समर्थन में जिस तरह देश के अलग-अलग हिस्सों से तथा अन्य देशों से मज़दूर संगठनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा बुद्धिजीवियों ने समर्थन किया, प्रशासन के खिलाफ़ मुखर हुए उससे यह साबित होता है कि हक और इंसाफ़ की लड़ाई ईमानदारी और बहादुरी से लड़ने वालों के साथ देश-दुनिया के सभी इंसाफ़पसंद लोग होते हैं। अपनी लड़ाई के लिए एक बार तो मज़दूरों को खुद आगे आना ही होगा। जब संघर्ष ईमानदार और बहादुराना होगा तभी दूसरे लोग उनका साथ देंगे।

गोरखपुर गोलीकांड इस बात की गवाही देता है कि माँगपत्रक आन्दोलन की पहली ही रैली ने अपना असर दिखाना शुरू कर दिया है। पूँजीपति समझ रहे हैं कि मज़दूरों के एक ऐतिहासिक संघर्ष की शुरुआत हो चुकी है। इसीलिए वह इस संघर्ष को कुचल देना चाहते हैं। मज़दूर वर्ग को एक होकर मुकाबला करना होगा। हमें उनसे टक्कर लेनी होगी जो हमें इंसान नहीं समझते।

● ताजिन्दर, एक मज़दूर, लुधियाना।

लुधियाना में मज़दूरों के लिए पुस्तकालय की स्थापना

बिगुल संवाददाता, लुधियाना

उत्पादन की प्रक्रिया यानी प्रकृति से संघर्ष से ही ज्ञान पैदा होता है। उत्पादन प्रक्रिया में मुख्य भूमिका उत्पादक वर्ग की होती है। कहने का अर्थ है कि सारे ज्ञान और संस्कृति को पैदा करने वाले मेहनतकश लोग ही हैं। लेकिन वे ही हर तरह के ज्ञान और संस्कृति से वंचित हैं। आज के समय में वे मशीनों के पुर्जे बनकर रह गये हैं। पूँजी की अन्धी लूट ने आधुनिक मज़दूर वर्ग को एक अमानवीकृत समूह बना दिया है। मज़दूर वर्ग तक ज्ञान और संस्कृति को लेकर जाना मुक्ति की नयी परियोजना का एक अहम हिस्सा है। इसी सोच को व्यावहारिक रूप देने के लिए लुधियाना की मज़दूर कालोनी में मज़दूर पुस्तकालय की शुरुआत की गयी है।

पिछली 10 जुलाई को चण्डीगढ़ रोड, लुधियाना स्थित मज़दूर बस्ती ई.डबल्यू.एस. कालोनी में मज़दूर पुस्तकालय का उद्घाटन किया गया। उद्घाटन समारोह में लगभग पाँच सौ मज़दूर पहुँचे। पुस्तकालय का उद्घाटन बुज़ुर्ग वामपंथी तथा देशभगत यादगार हाल कमेटी, जालन्धर के उपाध्यक्ष कामरेड नौनिहाल सिंह जी ने किया। समारोह की शुरुआत पुस्तकालय के मुख्य प्रबन्धक साथी राजविन्दर ने क्रांतिकारी गीत पेश करके की। इसके बाद मज़दूर पुस्तकालय के उद्देश्य के बारे में बताते हुए मज़दूर संगठनकर्ता लखविन्दर ने कहा कि जिस तरह मज़दूर वर्ग को पूँजीपति वर्ग ने अन्य सभी चीजों से वंचित रखने में कोई कसर बाकी नहीं रहने दी उसी तरह उन्हें ज्ञान से भी वंचित कर दिया गया है। मज़दूरों को ही ज्ञान की सबसे अधिक ज़रूरत है क्योंकि दुनिया की ऐतिहासिक कायापलट करने का काम अब इसी वर्ग के कन्धों पर है। लखविन्दर ने कहा कि मज़दूर पुस्तकालय की स्थापना मज़दूरों तक मुक्ति का ज्ञान पहुँचाने के प्रयासों का ही एक छोटा-सा अंग है।

कामरेड नौनिहाल सिंह ने मज़दूर साथियों से कहा कि मज़दूरों में चेतना फैलाने की यह कोशिश बहुत प्रशंसनीय है और उम्मीद ज़ाहिर की कि मज़दूरों की ओर से उनके लिए स्थापित किये गये इस पुस्तकालय के लिए अच्छा उत्साह दिखायेंगे। देशभगत यादगार हाल के पुस्तकालय के इंचार्ज चिरंजीवी लाल ने कहा कि उन्होंने मज़दूरों को अपनी आर्थिक माँगों व मसलों पर तो को जुटते देखा है लेकिन एक पुस्तकालय के उद्घाटन के मौके पर इतनी दिलचस्पी और अनुशासित ढंग से एकत्रित होते हुए देखने का अवसर उन्हें पहली बार मिला है। मज़दूरों को जागृत करने के लिए पुस्तकालय स्थापित किया जाना एक अच्छा कदम है।

उद्घाटन समारोह में साथी ताज मोहम्मद ने मज़दूर मुक्ति की कविता पेश की तथा घनश्याम, नसीम तथा अन्य मज़दूर साथियों ने भी अपने विचार पेश किये।

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल – समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?
– अभिनव
रु. 15.00

नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार
– आलोक रंजन
रु. 50.00

'मज़दूर बिगुल' इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक 'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' के सभी अंक, नवम्बर 2010 से आरम्भ 'मज़दूर बिगुल' के अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम 'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं। वेबसाइट का पता :
http://sites.google.com/site/bigulakhbar
'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं। ब्लॉग का पता :
http://bigulakhbar.blogspot.com

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अखबार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं, हालत के बारे में, अपनी सोच के बारे में या 'बिगुल' के बारे में लिखकर हमें भेजिये।

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी- चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल : bigul@rediffmail.com
मूल्य : एक प्रति – रु. 5/-
वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

श्रम कानूनों के उल्लंघन के ख़िलाफ़

दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के नेतृत्व में मेट्रो रेल ठेका कर्मचारियों के संघर्ष के नये दौर की शुरुआत

पिछली 11 जुलाई को दिल्ली मेट्रो रेल कर्मचारियों ने अपने आन्दोलन के नये दौर की शुरुआत करते हुए नयी दिल्ली में जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन किया और मेट्रो के निदेशक ई. श्रीधरन का पुतला दहन किया। पिछले करीब ढाई वर्षों से दिल्ली मेट्रो रेल के ठेका कर्मचारियों की यूनियन 'दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन' मेट्रो रेल के कर्मचारियों को बुनियादी श्रम अधिकार भी नहीं मिलने के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रही है। इस संघर्ष की शुरुआत 2008 में मेट्रो रेल स्टेशनों पर काम करने वाले सफाई कर्मचारियों के आन्दोलन से हुई थी। इस आन्दोलन के बाद सफ़ाई कर्मचारियों को सरकारी न्यूनतम मज़दूरी की दर से वेतन देना तो शुरू नहीं किया गया, लेकिन उनके वेतनों में बढ़ोत्तरी की गयी। इसके बाद इस आन्दोलन में मेट्रो फीडर बस सेवा के चालक व परिचालक भी जुड़ गये। 2009 में दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के बैनर तले नयी दिल्ली स्थित मेट्रो भवन पर दिल्ली मेट्रो के ठेका कर्मचारियों ने धरना दिया। इस धरने के बाद करीब 46 लोगों को गिरफ्तार किया गया जो दो दिन तक तिहाड़ जेल में बन्द रहे। लेकिन इसके बावजूद मेट्रो कर्मचारियों का आन्दोलन जारी रहा। इस बीच दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन ने यूनियन के संघर्ष के चलते मेट्रो फीडर बस सेवा का ठेका रद्द कर दिया।

लेकिन इन संघर्षों के बावजूद अभी भी दिल्ली मेट्रो रेल के भीतर टिकट वेण्डिंग ऑपरेटरों, सफ़ाई कर्मचारियों और सुरक्षाकर्मियों को श्रम कानूनों द्वारा प्रदत्त बुनियादी सुविधाएँ भी नहीं दी जा रही हैं। मिसाल के तौर पर, टिकट वेण्डिंग ऑपरेटरों की न्यूनतम मज़दूरी करीब आठ हज़ार बनती है, जबकि उन्हें मात्र साढ़े चार से पाँच हज़ार रुपये दिये जाते हैं। सफ़ाई कर्मचारियों की न्यूनतम मज़दूरी करीब पौने सात हज़ार रुपये बनती है लेकिन उन्हें साढ़े तीन से चार हज़ार रुपये पर खटाया जाता है और वह भी बिना किसी साप्ताहिक छुट्टी के! यूनियन के बैनर तले संघर्ष के बाद हाल ही में कुछ ठेका कम्पनियों ने दबाव में आकर सफ़ाई कर्मचारियों को साप्ताहिक छुट्टी देने की शुरुआत की है। सिक्योरिटी कर्मचारियों को भी न्यूनतम मज़दूरी का करीब आधा दिया जाता है। स्टेशन स्टाफ़, जिसमें कि ये तीनों किस्म के कर्मचारी आते हैं, को ई.एस.आई, पी.एफ आदि की कानून-प्रदत्त सुविधाओं से वंचित रखा जाता है। मज़दूरों को सतत कम्पनी के सुपरवाइज़रों और दबंगों के आतंक में रहना पड़ता है, जो बिना किसी स्पष्ट कारण के किसी को भी निलम्बित या निष्कासित कर सकते हैं। आम तौर पर, नौकरी पर रखने से पहले ये ठेका कम्पनियाँ, जिसमें ट्रिग सिक्योरिटीज़, बेदी एण्ड बेदी, प्रहरी, ए2ज़ेड, ऑल सर्विसेज़, आदि शामिल हैं, मज़दूरों से 'सिक्योरिटी राशि' के नाम पर 40 से 70 हज़ार रुपये तक लेती हैं। वास्तव में यह 'सिक्योरिटी राशि' लेना ही ग़ैर-कानूनी है और यह इसलिए ली जाती है कि मज़दूर अपना मुँह बन्दकर चुपचाप काम करे और अपने अधिकारों के लिए आवाज़ न उठाये। श्रम कानूनों के इन नग्न उल्लंघन में न सिर्फ़ ये निजी ठेका कम्पनियाँ शामिल हैं बल्कि स्वयं दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन भी शामिल है। डी.एम.आर.सी. ने दिल्ली मेट्रो रेल की तमाम उन सेवाओं को ठेके पर दे रखा है जो स्थायी प्रकृति का काम हैं। वह कैजुअल या अस्थायी रूप से नहीं किये जाते। मिसाल के तौर पर, टिकट वेंडिंग, सफ़ाई और सिक्योरिटी एक स्थायी प्रकृति का काम है। लेकिन इन सभी कामों को दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन ने ठेके पर दे रखा है जो कि सीधे-सीधे कानूनों का उल्लंघन है। वेतन दिये जाने के समय डी.एम.आर.सी. का कोई नुमाइन्दा मौजूद रहना चाहिए। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं होता। ठेका मज़दूर कानून 1971 के अनुसार दिल्ली मेट्रो रेल में कार्यरत सभी ठेका मज़दूरों को उनके कानून-प्रदत्त अधिकार मिलने की गारण्टी करना डी.एम.आर.सी. की ज़िम्मेदारी है। लेकिन दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के सूचना अधिकार अधिनियम के तहत दायर याचिका के जवाब में डी.एम.आर.सी. ने स्वयं यह माना है कि उसके पास अपने ठेका मज़दूरों का कोई रिकॉर्ड नहीं है। यदि उसके पास अपने ठेका मज़दूरों का कोई रिकॉर्ड ही नहीं है तो आख़िर वह सुनिश्चित कैसे करती है कि सभी श्रम कानून लागू हो रहे हैं? वास्तव में, इसके लिए ठेका कम्पनियों से ही, जो कि स्वयं श्रम कानूनों के नग्न उल्लंघन लिप्त हैं, एक लिखित वचन ले लिया जाता है कि वे श्रम कानूनों को लागू करेंगी, अन्यथा उन पर कार्रवाई की जायेगी। लेकिन यह महज़ एक औपचारिकता है। इस औपचारिकता के पूरे होने के बाद ठेका कम्पनियाँ और डी.एम.आर.सी. दोनों ही श्रम कानूनों के उल्लंघन में लग जाते हैं। यहाँ तक कि डी.एम.आर.सी. ने अपनी ठेका कम्पनियों से ऐसे करार किये हैं जो कि ग़ैर-कानूनी हैं! डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों के बीच के करारनामे में यह लिखा गया है कि किसी भी किस्म के कानूनों के उल्लंघन की सूरत में डी.एम.आर.सी. की कोई जवाबदेही नहीं होगी और जवाबदेही पूरी तरह ठेका कम्पनियों की होगी। ऐसा कोई भी करार कोई सरकारी या ग़ैर-सरकारी संस्थान नहीं बना सकता जिसमें प्रधान नियोक्ता ने अपने आपको श्रम कानूनों के कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने से अलग कर लिया और अपना पल्ला झाड़ लिया है। यह करार ही ग़ैर-कानूनी है। इन सभी मुद्दों पर दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन श्रम न्यायालय में मुकदमा दायर करने के अलावा हाई कोर्ट में जनहित याचिका दायर करने पर विचार कर रही है। इस कानूनी पहलू के साथ ही यूनियन सड़क पर उतर कर भी मेट्रो मज़दूरों की लड़ाई को सार्वजनिक स्पेस में ला रही है।

'मेट्रो मैन' श्रीधरन का पुतला जलाते मज़दूर

10 जुलाई को दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के नेतृत्व में करीब 100 मेट्रो मज़दूर और कुछ अन्य संगठनों से समर्थन में आये कार्यकर्ताओं ने ज़बर्दस्त प्रदर्शन किया और 'मेट्रो-मैन' ई. श्रीधरन का पुतला फूँका। मेट्रो मज़दूरों की माँग है कि 1 अप्रैल, 2011 से लागू नये न्यूनतम वेतन का एरियर समेत भुगतान किया जाय और ई.एस.आई. और पी.एफ. की सुविधा दी जाय; कम्पनियों द्वारा ग़ैर-कानूनी और नाजायज़ ढंग से नौकरी से बाहर किये जाने को बन्द किया जाय और निकाले जाने या निलम्बित किये जाने की एक सुपरिभाषित नीति होनी चाहिए; मज़दूरों के कार्यकाल को आठ घण्टे तक सीमित रखा जाना चाहिए और ओवरटाइम पर दोगुनी दर से वेतन का भुगतान होना चाहिए; सभी सफ़ाई कर्मचारियों को साप्ताहिक छुट्टी मिलनी चाहिए; और वेतन पर्ची मिलनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, कई अन्य माँगें भी मज़दूरों ने प्रशासन के सम्मुख रखीं। प्रदर्शन के बाद सैकड़ों मज़दूरों के हस्ताक्षर वाले एक ज्ञापन और माँगपत्रक को क्षेत्रीय श्रमायुक्त, डी.एम.आर.सी. निदेशक श्रीधरन, भारत के प्रधानमन्त्री और श्रम मन्त्री, दिल्ली की मुख्यमन्त्री और श्रम मन्त्री को सौंपा गया और चेतावनी दी गयी कि यदि ठेका मज़दूरों के कानूनी अधिकारों का हनन जारी रहा तो मेट्रो मज़दूरों के पास सड़क पर उतरकर आन्दोलन करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं बचेगा।

मेट्रो मज़दूरों का दिल्ली मेट्रो कामगार यूनियन के तहत आन्दोलन की शुरुआत महत्वपूर्ण है क्योंकि दिल्ली मेट्रो रेल की पूरी कार्यशक्ति बेहद बिखरी हुई है। टिकट-वेण्डिंग करने वाले आठ-दस लोगों का स्टाफ़ अलग केबिन में बैठा दिन पर टोकन बनाता रहता है; आठ सफ़ाईकर्मियों की शिफ्ट अलग-अलग अपने काम में लगी रहती है और सिक्योरिटी गार्ड्स भी अलग-अलग गेटों पर ड्यूटी पर लगे रहते हैं। यह कार्यशक्ति पूरी दिल्ली में बिखरी हुई है। इसे न तो कार्यस्थल पर ही बड़ी संख्या में एक जगह पकड़ा जा सकता है और न ही किसी एक रिहायश की जगह पर। ऊपर से दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन का तानाशाह प्रशासन और ठेका कम्पनियों की गुण्डागर्दी के आतंक! इन सबके बावजूद लम्बी तैयारी, प्रचार, स्टेशन मीटिंगों के बाद यूनियन ने सैकड़ों मज़दूरों को जुटाकर यह प्रदर्शन करके सिद्ध किया कि मेट्रो मज़दूर भी एकजुट होकर लड़ सकते हैं। दिल्ली मेट्रो रेल मज़दूरों के बीच ठेका मज़दूरों की यूनियन बनने का कई कारणों से भारी महत्व है। डी.एम.आर.सी. भारतीय पूँजीवाद के विकास के प्रतीकों में से एक है। यह एक वैश्विक शहर पर दिल्ली के दावे को मज़बूत करने वाला सबसे अहम कारक है। यह व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्र के रूप में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में पूँजी के संचरण की गति को बढ़ाती है। इस रूप में यह पूँजीवादी व्यवस्था के लिए एक बेहद महत्वपूर्ण परिवहन माध्यम है। इसके रुकने या ठप्प पड़ने का व्यवस्था बर्दाश्त नहीं कर सकती और ऐसी किसी भी स्थिति से बचना चाहेगी। इसीलिए दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन अपने मज़दूरों को किसी भी कीमत पर संगठित होने से रोकना चाहता है। लेकिन ऐसे प्रयास सफल नहीं हो सकते। मेट्रो रेल की चमचमाती दुनिया के नीचे मज़दूरों के जीवन का जो नर्क जैसा रसातल है, वह आने वाले समय में उन्हें इस शोषण, उत्पीड़न और अन्याय के लिए संगठित करेगा और यह प्रक्रिया शुरू हो चुकी है।

-बिगुल संवाददाता

फार्बिसगंज हत्याकाण्ड : नीतीश कुमार सरकार के "सुशासन" का असली चेहरा!

बिहार में नीतीश कुमार सरकार के "सुशासन" की पूँजीवादी मीडिया में चारों ओर चर्चा है। लेकिन इसका असली चेहरा कितना ख़ूनी और बर्बर है यह उनकी पुलिस ने फार्बिसगंज में दिखा दिया। बिहार में नये आर्थिक और सामाजिक विकास की गाड़ी पर कौन सवार हैं और किसे रौंदती हुई यह आगे बढ़ रही है यह भी इस घटना ने साफ कर दिया है।

पिछले 3 जून को अररिया ज़िले के फ़ार्बिसगंज मण्डल के भजनपुर गाँव में एक कारख़ाना मालिक की शह पर पुलिस ने इन्सानियत को शर्मसार करने वाला बर्बरता का ऐसा ताण्डव किया जिसकी मिसाल आज़ाद भारत में जल्दी नहीं मिलेगी। इस छोटे-से गाँव की लगभग पूरी आबादी मुस्लिम है और ज़्यादातर लोग आसपास के बाज़ार में और बड़े फ़ार्मरों के खेतों पर दिहाड़ी मज़दूर के रूप में काम करते हैं। 1984 में बिहार औद्योगिक क्षेत्र विकास प्राधिकरण (बियाडा) ने गाँव की 105 एकड़ ज़मीन अधिग्रहीत की थी जिसमें अधिकांश गाँव वालों की ज़मीन छिन गयी थी और बदले में उन्हें बहुत ही मामूली मुआवज़ा देकर टरका दिया गया था। इस गाँव को नज़दीकी मार्केट, ईदगाह, अस्पताल और कर्बला से जोड़ने वाली एकमात्र सड़क थी जो 1962 में बनायी गयी थी। लेकिन नीतीश सरकार के आदेश से बियाडा ने पिछले साल जून में इस सड़क सहित रामपुर और भजनपुर गाँवों के बीच की सारी ज़मीन ऑरो सुन्दरम इण्टरनेशनल कम्पनी को मक्के से स्टार्च बनाने की फ़ैक्टरी स्थापित करने के लिए आवण्टित कर दी।

इस कम्पनी के डायरेक्टरों में से एक भाजपा के एम.एल.सी. अशोक अग्रवाल का बेटा सौरभ अग्रवाल भी है। बियाडा के इस निर्णय के विरोध में गाँव वालों ने एस.डी.ओ. को अपना शिकायत पत्र सौंपकर सड़क बन्द न करने की अपील की थी, क्योंकि ऐसा होने पर दिहाड़ी पर खटने वाले इन मज़दूरों को रोज़ काम की तलाश में मार्केट तक पहुँचने के लिए 5-7 किलोमीटर की अतिरिक्त दूरी तय करनी पड़ती। मामले को सुलझाने के लिए 1 जून 2011 को कम्पनी अधिकारियों, प्रशासन और मुखिया समेत गाँव वालों के बीच एक मीटिंग हुई थी जिसमें गाँव वालों ने इस शर्त पर सड़क पर अपना अधिकार छोड़ने की लिखित रूप से हामी भर दी थी कि फ़ैक्टरी के दक्षिण की ओर से एक सड़क निकाल दी जाये। लेकिन अगले ही दिन 2 जून को कम्पनी ने भारी पुलिस बल की मौजूदगी में ईंट और कॉन्क्रीट की दीवार बनाकर सड़क को बन्द कर दिया और पास का एक छोटा पुल भी ध्वस्त कर दिया। यह ख़बर गाँव में फैलते ही लोगों को लगा कि कम्पनी ने उनके साथ धोखा किया है और उनका गुस्सा फूट पड़ा। भजनपुर और रामपुर गाँव के निवासियों ने सड़क बन्द किये जाने के विरोध में प्रदर्शन करना शुरू कर दिया और कम्पनी द्वारा बनायी गयी दीवार को ढहा दिया। गाँववालों के इस तथाकथित उग्र प्रदर्शन को रोकने के लिए मौक़े पर मौजूद एस.पी. गरिमा मलिक ने प्रदर्शनकारियों पर सीधे फ़ायरिंग का आदेश दे दिया।

आदेश मिलते ही पुलिस ने निर्दोष गाँववालों को सबक़ सिखाने के लिए अपनी हैवानियत और वहशीपन का जो रूप दिखाया उसके दृश्यों को देखकर रूह काँप उठती है। पुलिस ने गाँव वालों को उनके घरों तक खदेड़-खदेड़ कर मारा। 18 वर्षीय मुस्तफा अंसारी को पुलिस ने चार गोलियाँ मारीं जिससे वह मृतप्राय अवस्था में ज़मीन पर गिर पड़ा। लेकिन इतने से उनकी हैवानियत शान्त नहीं हुई। सुनील कुमार नाम का पुलिस वाला ज़मीन पर पड़े अधमरे मुस्तफ़ा के चेहरे पर कूद-कूदकर अपने पैरों से उसे कुचलने और अपने बूटों से उस पर पागलों की तरह प्रहार करने लगा जबकि वहाँ खड़े पुलिस वालों से लेकर प्रशासनिक अधिकारियों तक सब के सब तमाशबीन की तरह देखते रहे। पुलिस फ़ायरिंग का शिकार दूसरा शख़्स मुख्तार अंसारी था जिसे सिर में तीन और एक गोली जाँघ में लगी। पगलाई पुलिस ने गर्भवती माँ और सात माह के बच्चे तक को नहीं बख़्शा। 6 माह की गर्भवती शाज़मीन खातून को 6 गोलियों (चार सिर में) से छलनी करने के बाद पुलिस के एक सिपाही ने ज़मीन पर पड़ी लाश पर राइफ़ल की बट से वार कर उसके सिर को फाड़ डाला और उसका दिमाग़ बाहर आ गया। 7 माह के नौशाद अंसारी की दो गोलियाँ लगने से मौत हो गयी। इसके अलावा फ़ायरिंग में आधा दर्जन से भी अधिक लोग घायल हुए। मरने वालों में सभी मुस्लिम थे।

घटना के बाद गाँव में गये एक जाँच दल को गाँव वालों ने बताया कि 29 मई को राज्य के उप-मुख्यमन्त्री भाजपा के सुशील मोदी ने फ़ार्बिसगंज का दौरा कर वहाँ के प्रशासन पर दबाव डाला था कि जल्द से जल्द सड़क को बन्द कर फ़ैक्टरी का निर्माण कार्य शुरू करने का रास्ता साफ़ करें। 3 जून की घटना के प्रत्यक्षदर्शियों के मुताबिक़ उस दिन ख़ुद भाजपा विधायक अशोक अग्रवाल ने पुलिस वाले से पिस्तौल लेकर गाँव वालों पर फ़ायरिंग की और कहा कि "इनको पिंजरे में बन्द कर देंगे, जेल बना देंगे सालों के गाँव को।" ये दबंगई और बेशर्मी की पराकाष्ठा ही है कि सारे साक्ष्य होने और घटना के अगले ही दिन इस बर्बर पुलिस दमन का वीडियो एक लोकल समाचार चैनल पर दिखाये जाने के बावजूद कांस्टेबल सुनील कुमार के तबादले के अलावा अन्य किसी भी पुलिस अधिकारी, प्रशासनिक अधिकारी, कम्पनी अधिकारी या अशोक अग्रवाल पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी और न ही मृतकों या घायलों को (नौशाद अंसारी के पिता को छोड़कर) कोई मुआवज़ा ही दिया गया। इसके उलट नीतीश सरकार और प्रशासन गाँववालों के प्रदर्शन को उग्र ठहराकर पुलिस की इस घिनौनी कार्रवाई को जायज़ करने की कोशिश करते रहे।

फ़ार्बिसगंज की घटना बिहार में नीतीश शासन के दौरान ग़रीब किसानों व मज़दूरों के बर्बर पुलिस दमन की कोई अकेली घटना नहीं है। अपना हक़ माँगने वाले ग़रीब किसानों, मज़दूरों, सरकारी कर्मचारियों, अध्यापकों आदि पर सरकार की लाठियाँ-गोलियाँ बार-बार बरसती रही हैं। मीडिया में अपनी छवि चमकाने के लिए नीतीश कुमार चाहे जितने करोड़ खर्च कर लें फ़ार्बिसगंज के ख़ून के छींटे उनके चेहरे से मिटने वाले नहीं हैं।

– प्रशान्त

मारुति सुज़ुकी के मैनेजमेण्ट ने मज़दूर नेताओं को प्रताड़ित करने और उकसावेबाज़ी की घटिया तिकड़में शुरू कीं

मज़दूरों को एकजुट रहकर मैनेजमेण्ट की चालों को नाकाम करना होगा

मारुति सुज़ुकी कम्पनी के मानेसर स्थित कारख़ाने के 2000 से अधिक मज़दूरों की जुझारू हड़ताल के बारे में 'बिगुल' के पाठकों ने मई-जून अंक में पढ़ा होगा। हमने उस रिपोर्ट में सवाल उठाया था कि इतनी जुझारू और एकजुट हड़ताल के बावजूद मज़दूरों को बिना कुछ हासिल किये पीछे क्यों हटना पड़ा। हमने उस रिपोर्ट में चर्चा की थी कि अगर मारुति के मज़दूरों को बाहर से समर्थन दे रही बड़ी-बड़ी यूनियनें ईमानदारी से चाहतीं तो इस हड़ताल को गुड़गाँव क्षेत्र के मज़दूरों के बुनियादी मुद्दों पर व्यापक साझा संघर्ष का रूप दिया जा सकता था और मैनेजमेण्ट तथा सरकार पर दबाव बनाया जा सकता था।

सिर्फ मानेसर में ही करीब एक लाख मज़दूर मारुति के मज़दूरों से भी बुरी स्थितियों में काम करते हैं। गुड़गाँव और आसपास के ऑटोमोबाइल उद्योगों की पूरी बेल्ट में लाखों युवा मज़दूर बेहद कठिन हालात में काम करते हैं और उनका असन्तोष बार-बार सतह पर आता रहा है। मारुति के मज़दूरों की मुख्य माँग यानी अपनी स्वतंत्र यूनियन गठित करने की माँग इस इलाक़े के अधिकांश कारख़ानों की सामान्य माँग रही है। अगर इन मुद्दों को लेकर व्यापक सम्पर्क किया गया होता तो मारुति के मज़दूरों की लड़ाई को इलाक़े की व्यापक मज़दूर आबादी से जोड़ा जा सकता था। पिछले वर्ष चीन में ऑटोमोबाइल उद्योग के मज़दूरों की सफल हड़ताल इस बात का उदाहरण है कि एकजुट संघर्ष का क्या असर होता है।

एटक, सीटू और एचएमएस जैसी बड़ी यूनियनों की तो ऐसा करने की मंशा ही नहीं थी मगर ख़ुद मारुति के अगुआ मज़दूर भी इस बात के महत्व को नहीं समझ सके। हमने पिछले अंक में इस बात के लिए आगाह भी किया था कि मज़दूरों को भोलेपन के साथ मारुति के मैनेजमेण्ट की इस ज़ुबानी बात पर भरोसा नहीं करना चाहिए एक बार यूनियन का रजिस्ट्रेशन हो जाये तो मान्यता देने में उसे कोई परेशानी नहीं है। आख़िर यह वही मैनेजमेण्ट है जिसने 2000 में गुड़गाँव प्लाण्ट में हड़ताल टूटने के बाद वहाँ की 'मारुति उद्योग इंप्लाइज़ यूनियन' को बरबाद कर अपनी पिट्ठू यूनियन 'मारुति उद्योग कामगार यूनियन' बनवायी थी। ज़्यादा सम्भावना इसी बात की है कि यह मैनेजमेण्ट यूनियन का रजिस्ट्रेशन ही नहीं होने देगा। मुख्यमंत्री हुड्डा ने सुज़ुकी कम्पनी के जापानी सीईओ को आश्वासन दिया हुआ है कि उनकी सरकार ऐसी नौबत नहीं आने देगी कि एक कम्पनी में दो यूनियनें हो जायें। मैनेजमेण्ट ने हड़ताल के नेताओं पर जाँच की तलवार लटका ही रखी है। इसके बावजूद मज़दूर चीज़ों को हल्केपन से लेते रहे और मैनेजमेण्ट, श्रम विभाग तथा बड़ी यूनियनों के नेताओं के आश्वासनों पर भरोसा करके बैठे रहे।

पिछले महीने मैनेजमेण्ट ने अधिकांश मज़दूरों के बहिष्कार के बावजूद अपनी पिट्ठू यूनियन का चुनाव कराया और फिर उसके कुछ दिन बाद सुपरवाइज़र के साथ कहासुनी को लेकर यूनियन के 6 अगुआ मज़दूरों को निष्कासित कर दिया। मज़दूरों के व्यापक विरोध के बाद विज़िटर पास बनाकर उन्हें फैक्ट्री के भीतर आने दिया गया लेकिन मसला अभी हल नहीं हुआ है। कम्पनी ने निजी सिक्योरिटी कम्पनी से बाउंसर बुलवाकर जगह-जगह तैनात कर रखे हैं। ज़ाहिर है कि मैनेजमेण्ट मज़दूरों को उकसाने के बहाने ढूँढ़ रहा है ताकि उसे बहाना बनाकर उनके ख़िलाफ़ कार्रवाई की जा सके। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि 16 जून को हुए समझौते के मुताबिक दो महीने के भीतर मज़दूरों की ओर से कोई भी "अनुशासनहीनता" होने पर उनका 2-2 दिन का वेतन काटा जा सकता है। दरअसल, यह मैनेजमेण्ट की सोची-समझी तिकड़म है जिसके सहारे वह धीरे-धीरे मज़दूरों का मनोबल गिराना चाहता है और उनमें फूट डालना चाहता है।

मारुति के मज़दूरों को इसे हल्के तौर पर न लेकर अपनी एकजुटता बनाये रखनी चाहिए और मैनेजमेण्ट की चालों में न आकर यूनियन के रजिस्ट्रेशन के लिए श्रम विभाग पर दबाव डालते रहना चाहिए। साथ ही, उन्हें अपने कारख़ाने के दायरे से बाहर गुड़गाँव के अन्य कारख़ानों के मज़दूरों और दुनिया भर में ऑटोमोबाइल उद्योग के मज़दूरों के साथ संवाद और एकजुटता की कोशिशें तेज़ कर देनी चाहिए।

– बिगुल संवाददाता

माँगपत्रक शिक्षणमाला–7

स्त्री मज़दूर सबसे अधिक शोषित-उत्पीड़ित हैं

उन्हें साथ लिये बिना मज़दूर आन्दोलन बड़ी जीतें नहीं हासिल कर सकता!

मज़दूर माँगपत्रक–2011 की पहली छह माँगों – न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे कम करने, ठेका के ख़ात्मे, काम की बेहतर तथा उचित स्थितियों की माँग, कार्यस्थल पर सुरक्षा और दुर्घटना की स्थिति में उचित मुआवज़ा तथा प्रवासी मज़दूरों के हितों की सुरक्षा – के बारे में विस्तार से जानने के लिए पढ़ें 'मज़दूर बिगुल' के अंक 1, 2, 3, 4, 5 और 7-8 – सम्पादक

कहा जाता है कि पूँजीवादी अट्टालिका की बुनियाद में स्त्री मज़दूरों और बाल मज़दूरों की हड्डियाँ दबी हुई हैं। जब पूँजीवाद का युग आया तो सबसे सस्ते में पूँजीपतियों को इन्हीं की श्रम शक्ति मिलती थी और ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी-संचय के लिए वे इनकी हड्डियाँ निचोड़ डालते थे।

कार्ल मार्क्स ने अपनी महान पुस्तक *पूँजी खण्ड-1* में, उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में अत्यधिक काम से स्त्री मज़दूरों की मौतों की, खदानों में औरतों और बच्चों से जानवरों की तरह काम लेने और नहरों में नाव खींचने के लिए घोड़ों के बजाय औरतों का इस्तेमाल किये जाने जैसे चलनों की चर्चा की है।

आज निजीकरण-उदारीकरण के दौर में, भारत जैसे देश में स्त्री मज़दूरों की जो भीषण दुर्दशा है, उसकी चर्चा से पहले ज़रूरी है कि आम तौर पर, पूँजीवाद के अन्तर्गत स्त्री मज़दूरों की विशेष स्थिति और उनके शोषण के स्वरूप को समझ लिया जाये।

एक मज़दूर भरण-पोषण के लिए अपनी श्रम शक्ति को माल के रूप में पूँजीपति को बेच देता है। पूँजीपति उससे दिन में सुनिश्चित घण्टों तक काम लेने का अधिकार पा जाता है। मज़दूर का दैनिक श्रम काल दो हिस्सों में बँटा होता है : (1) आवश्यक श्रम के घण्टे और (2) अतिरिक्त श्रम के घण्टे। आवश्यक श्रम के घण्टों के दौरान मज़दूर उतना मूल्य उत्पादित करता है जो उसकी श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए ज़रूरी है। बाकी समय (अतिरिक्त श्रम के घण्टे) में वह पूँजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करता है। मज़दूर को जो मज़दूरी मिलती है वह उसे पूरे दिन के श्रम का भुगतान लगती है, जबकि वास्तव में उसे 'आवश्यक श्रम काल' में उत्पादित मूल्य के बराबर ही मज़दूरी मिलती है। इस तरह उसके द्वारा किया जाने वाला अतिरिक्त श्रम पूँजीपति उससे बग़ैर कोई भुगतान किये ही हासिल कर लेता है।

पूँजीवादी समाज में श्रम शक्ति एक माल होती है और मूल्य का एक स्रोत होती है, लेकिन स्वयं इसके पुनरुत्पादन की प्रक्रिया को पूँजीवादी उत्पादन के दायरे से बाहर ही रखा जाता है। एक बार मज़दूरी (श्रम का मूल्य) का एक निश्चित दर पर भुगतान करने के बाद, पूँजीपति को इस बात से कोई मतलब नहीं होता कि मज़दूर अपने को काम करने लायक़ बनाये रखने के लिए तथा मज़दूरों की नयी पीढ़ी को परवरिश करके तैयार करने के लिए क्या करता है और कैसे करता है! मज़दूर को श्रम के बदले जो मज़दूरी दी जाती है, उसका आधार बाज़ार से ज़रूरी चीजों और सेवाओं को ख़रीद पाने की क्षमता को बनाया जाता है। लेकिन महज इतने से ही श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन सम्भव नहीं हो सकता। बाज़ार से लायी चीज़ों को उपयोग लायक़ बनाने के लिए घर में नाना प्रकार के श्रम करने पड़ते हैं। अगली पीढ़ी को तैयार करने के लिए पूरे परिवार (बुजुर्गों सहित) की देखभाल से लेकर सैकड़ों प्रकार के घरेलू काम करने पड़ते हैं। परिवार के दायरे में होने वाले इस घरेलू श्रम की मुख्य ज़िम्मेदारी स्त्रियों की होती है। यानी 'आवश्यक श्रम' के 'सामाजिक हिस्से' का मूल्य बाज़ार से ख़रीदी जाने वाली आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के बराबर होता है। दूसरा इसका 'घरेलू हिस्सा' होता है जो परिवार और घर में किये जाने वाले श्रम का होता है।

पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली सामाजिक श्रम और घरेलू श्रम के विभाजन को पुख़्ता बनाता है। उद्योगीकरण घरेलू श्रम और सामाजिक श्रम के बीच स्थान और काल का अन्तर बनाता और बढ़ाता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में सारा लेखा-जोखा इस बात को लेकर होता है कि ज़्यादा से ज़्यादा अधिशेष कैसे पैदा हो, यानी ज़्यादा से ज़्यादा अतिरिक्त श्रम कैसे निचोड़ा जाये। अतिरिक्त श्रम के दायरे से घरेलू श्रम को अलग कर देने का नतीज़ा यह होता है कि घरेलू श्रम आर्थिक लेखा-जोखा से बाहर हो जाता है और 'अदृश्य' हो जाता है। इससे राष्ट्रीय आय के कुल बँटवारे में पूँजी की हिस्सेदारी बढ़ जाती है और श्रम की हिस्सेदारी कम हो जाती है। पूँजीवादी बाज़ार के नियमों के अनुसार भी, मज़दूरों को जो मज़दूरी मिलती है वह श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन की ज़रूरतों की आंशिक पूर्ति ही कर पाती है। इस तरह परिवार के पुराने पुरुष वर्चस्ववादी ढाँचे को तथा स्त्रियों की पुरानी घरेलू ग़ुलामी को पूँजीवाद नये भौतिक आधार पर स्थापित करता है और उनके श्रम की उपेक्षा करके ज़्यादा अधिशेष निचोड़ने में सफल रहता है।

श्रम के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम के घरेलू अंश की अधिकांश ज़िम्मेदारियाँ मज़दूर परिवारों की स्त्रियाँ ही उठाती हैं। दूसरी ओर आवश्यक श्रम के सामाजिक अंश की ज़िम्मेदारी उठाने वाले पुरुष मज़दूर को इतनी मज़दूरी नहीं मिलती कि वह पूरे परिवार की न्यूनतम ज़रूरतों को भी आसानी से पूरा कर सके। एक व्यक्ति की आमदनी से परिवार नहीं चल पाता। तब औरतों की मजबूरी हो जाती है कि वे सीधे तौर पर, आवश्यक सामाजिक श्रम में भी भागीदारी करें। पूँजीवादी समाज में उनकी दोहरी भूमिका हो जाती है। वे घरेलू श्रम भी करती हैं और उजरती मज़दूरी (वेज लेबर या पगार पर मज़दूरी) भी करती हैं।

मशीनों ने शारीरिक बल के अतिशय प्रयोग को अनुपयोगी बना दिया और स्त्रियों-बच्चों सहित मज़दूर परिवार के अधिकांश सदस्यों को मज़दूरी करने में लगाकर पूँजी का प्रत्यक्ष दास बना दिया। पूँजीवाद एक ओर जहाँ स्त्रियों के उजरती मज़दूरों की कतार में शामिल कर रहा था, वहीं वह यह भी चाहता था कि परिवार श्रम के पुनरुत्पादन की इकाई बना रहे, स्त्रियाँ बिना किसी एवज़ के सामाजिक श्रम करती रहें और राष्ट्रीय आमदनी के कुल बँटवारे में पूँजी के मुक़ाबले श्रम का हिस्सा कम बना रहे। ये परस्पर-विरोधी स्थितियाँ पूँजीवादी श्रम-प्रक्रियाओं के गठन में गुँथी-बुनी रहती हैं। स्त्रियों को तरह-तरह से ऐसी "सहूलियतें" दी जाती हैं कि वे अपनी तमाम घरेलू ज़िम्मेदारियों को निपटाने के साथ-साथ उजरती मज़दूरी कर सकें। उनकी सुविधा के हिसाब से काम की पाली रखी जाती है, उन्हें पार्टटाइम और कैजुअल कामों पर रखा जाता है और पीस रेट पर काम दिये जाते हैं ताकि वे घर पर चूल्हे-चौके, बाल-बच्चे आदि की साज-सम्हार करते हुए काम कर सकें। पुरुष स्वामित्ववादी सामाजिक-पारिवारिक संरचना में स्त्रियों, और पूरे मज़दूर वर्ग के, दिमाग़ में यह बात भर दी जाती है कि "घर का काम निपटाते हुए औरतें कुछ ऊपरी कमाई कर ले रही हैं और पारिवारिक बोझा हल्का करने में हाथ बँटा रही हैं" (इसमें यह भी निहित होता है कि घरेलू काम ही उनकी मुख्य और स्वाभाविक ज़िम्मेदारी होती है) और फिर इसका पूरा लाभ उठाकर उन्हें कम वेतन वाली, अकुशल, अर्द्धकुशल और अनियमित श्रम-प्रक्रियाओं तक सीमित रखा जाता है। यही नहीं, समान काम के लिए भी उन्हें पुरुषों के मुक़ाबले कम वेतन दिया जाता है। आज भी, माइक्रोचिप, गारमेण्ट्स, खाद्य-प्रसंस्करण आदि तमाम नये उद्योगों में सर्वाधिक श्रमसाध्य तथा सेहत पर बेहद ख़राब प्रभाव डालने वाले बारीक़ कामों में ठेका या पीसरेट पर स्त्री मज़दूरों को लगाया जाता है। उन्नत मशीनी काम करने पर भी उन्हें अकुशल या अर्द्धकुशल माना जाता है और कार्यस्थल की सुविधाओं पर भी मालिक कम से कम ख़र्च करके मज़दूरी पर ख़र्च घटाने और मुनाफ़ा बढ़ाने का काम करते हैं। परिवार में संसाधनों पर पुरुषों का अधिकार होता है, फ़ैसले की ताक़त उनके हाथों में होती है और घरेलू कामों का सारा बोझ स्त्रियों पर होता है। दूसरी ओर, बाहर काम करने की जगहों पर भी उनकी स्थिति दोयम दर्जे की होती है, उनका श्रम सस्ता होता है, काम की परिस्थितियाँ कठिन होती हैं और जनवादी अधिकार बेहद कम होते हैं।

उद्योगीकरण के अलग-अलग दौरों और पूँजी-संचय की प्रक्रिया के अलग-अलग चरणों में विभिन्न तरीक़ों से स्त्रियों को उन निकृष्टतम कोटि की उजरती मज़दूरों की कतारों में शामिल किया गया जो सबसे सस्ती दरों और सबसे आसान शर्तों पर अपनी श्रम शक्ति बेच सकती हों, सबसे कठिन हालात में काम कर सकती हों और घरेलू श्रम की ज़िम्मेदारियों के चलते संगठित होकर पूँजीपतियों पर सामूहिक सौदेबाज़ी का दबाव बना पाने की क्षमता जिनमें कम हो।

पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का बुनियादी गुण है – पूँजी संचय, और पूँजी संचय के निरन्तर जारी रहने के लिए ज़रूरी है कि राष्ट्रीय आय में मज़दूरी का हिस्सा बढ़ने न दिया जाये। पूँजीवादी समाज में बेरोज़गार, अर्द्धबेरोज़गार, आंशिक व सीज़नल काम करके गुजारा करने वाले कामगारों की एक ऐसी रिज़र्व श्रमशक्ति हरदम मौजूद रहती है, जो पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में नियमित सक्रिय भागीदारी नहीं करती, लेकिन पूँजीपतियों को जब ज़रूरत हो तब काम में लगा देने के लिए उपलब्ध रहती है। मज़दूरों की इस रिज़र्व सेना की मौजूदगी से, श्रम बाज़ार में लगातार यह दबाव बना रहता है कि मज़दूरी की दरें बढ़ने न पायें। काम करने वाले मज़दूरों की सामूहिक सौदेबाज़ी की ताक़त कम हो जाती है। इस रिज़र्व सेना में केवल बेरोज़गार-अर्द्धबेरोज़गार मज़दूर ही शामिल नहीं होते। खेती-बाड़ी और उससे जुड़े कई एक पूँजीवादी उत्पादन के ढाँचे से बाहर के कामों में लगकर गुजर-बसर करने वाली ग़रीब आबादी, पूँजीवादी खेती के कामों से फाज़िल हो चुकी आबादी और घरेलू कामों में लगी कामगार परिवारों की स्त्रियाँ भी मज़दूरों की उक्त रिज़र्व सेना का हिस्सा होती हैं। रिज़र्व सेना का यह हिस्सा पूँजीपतियों के लिए प्रत्यक्ष बेरोज़गारों से अधिक सुविधाजनक होता है। जब पूँजीवादी उत्पादन तन्त्र में श्रम की माँग बढ़ती है तो रिज़र्व सेना के इस हिस्से को कम से कम पगार पर उत्पादन कार्य में लगा दिया जाता है। इससे श्रम की माँग में आयी उछाल से मज़दूरी की दर में पैदा होने वाली स्वाभाविक वृद्धि रुक जाती है। फिर अगले दौर में श्रम की माँग में जब कमी आ जाती है, तो औरतों को उनकी घरेलू भूमिका में आसानी से वापस भेजा जा सकता है, इससे समाज में प्रत्यक्षत: न तो बेरोज़गारी बढ़ती दीखती है, न ही कोई सामाजिक-राजनीतिक संकट पैदा होता है।

पूँजीवाद के इतिहास में कई बार ऐसा भी हुआ कि श्रम की अतिरिक्त माँग नहीं होने पर भी मज़दूर आन्दोलन की संगठित ताक़त के चलते मज़दूरी की दरों में वृद्धि हो जाती थी। तब नयी तकनीक और उत्पादन प्रक्रिया के पुनर्गठन के द्वारा पूँजी श्रम की माँग को घटाने की कोशिश करती थी। नयी तकनीक संख्या की दृष्टि से श्रम की माँग घटाने की साथ ही कार्य की परिभाषा और कुशलता का पैमाना ही बदल डालती थी। इससे श्रम की माँग का पूरा ढाँचा भी बदल जाता था। उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड के कपड़ा उद्योग में यही हुआ। पहले बुनाई-कताई में मानवश्रम का अधिक इस्तेमाल होता था। फिर मशीनों का उपयोग बढ़ा और शारीरिक ताक़त की जगह उँगलियों की फुर्ती ने ले ली। इससे न केवल कुल श्रम की माँग में कमी आई बल्कि पुरुष मज़दूरों का स्थान बड़े पैमाने पर स्त्री मज़दूरों व बाल मज़दूरों ने ले लिया। मिलों में स्त्री मज़दूरों को बेहद कम वेतन पर कठिन स्थितियों में और प्रतिकूल सेवा शर्तों पर काम करना पड़ता था और कार्यस्थल पर उनका शोषण भी होता था। साथ ही, समूचे मज़दूर वर्ग पर भी इस नयी स्थिति का भयंकर असर पड़ा।

पूँजी के विरुद्ध मज़दूर वर्ग का संघर्ष यूरोप और अमेरिका में जब आगे बढ़ा तो उसमें स्त्री मज़दूरों की भी भूमिका बढ़ी। पेरिस कम्यून (1871) में स्त्री कम्युनार्डों ने भी शौर्यपूर्ण भूमिका निभाई थी। काम के घण्टों के आन्दोलन में भी उनकी शिरक़त थी, हालाँकि ट्रेड यूनियन आन्दोलनों में स्त्री मज़दूरों के प्रति पुरुष मज़दूरों का व्यवहार मैत्रीपूर्ण नहीं था। समाजवादियों द्वारा राजनीतिक शिक्षा और स्त्री मज़दूरों द्वारा पुरुष-स्वामित्व की संस्कृति के विरुद्ध लगातार संघर्ष से स्थिति में बदलाव आया। मज़दूर हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की जुझारू भूमिका ने भी पुरुष मज़दूरों की सोच बदलने में भूमिका निभाई। 1880 के आसपास, ट्रेड यूनियनों में भागीदारी बढ़ने के साथ-साथ स्त्री मज़दूरों के स्वतन्त्र संगठन बनने लगे। बीसवीं शताब्दी

(पेज 6 पर जारी)

स्त्री मज़दूरों को साथ लिये बिना मज़दूर आन्दोलन बड़ी जीतें नहीं हासिल कर सकता!

(पेज 5 से आगे)

के दूसरे दशक में यूरोप में जब ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर सुधारवादी काबिज़ हो गये थे तो बड़े पैमाने पर इसका असर स्त्री मज़दूरों की स्थिति पर भी पड़ा। जर्मनी में (जहाँ स्त्री मज़दूर आन्दोलन काफ़ी सशक्त रहा था) लाखों स्त्री मज़दूरों को उजरती मज़दूरों की पाँतों से वापस घरों की चारदीवारी में धकेल दिया गया था। इसी बीच अक्टूबर 1917 में सोवियत संघ में मज़दूर क्रान्ति के बाद दुनिया की पहली समाजवादी सत्ता अस्तित्व में आयी। इस क्रान्ति में स्त्री मज़दूरों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। क्रान्ति के बाद, भुखमरी और गृहयुद्ध के वर्षों से जूझकर सोवियत सत्ता जैसे ही सुस्थिर हुई, वैसे ही स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में अभूतपूर्व बदलाव आया। देखते ही देखते, घरेलू ग़ुलामी के बन्धनों से बाहर निकलकर करोड़ों स्त्रियाँ उत्पादक गतिविधियों और समाजवाद के निर्माण में सक्रिय भागीदारी करने लगीं। केवल क़ानूनी तौर पर ही उन्हें समानता के अधिकार नहीं मिले, बल्कि वास्तविक जीवन में भी मिले। राजनीति और प्रबन्धन के कामों में उनकी भागीदारी बढ़ी। इसका पूरी दुनिया के मज़दूर आन्दोलन पर और स्त्री मज़दूरों पर प्रभाव पड़ा। पूँजीवादी सत्ताओं पर दबाव बढ़ा और पहली बार स्त्री मज़दूरों के अधिकार सुनिश्चित करने वाले कुछ क़ानून बने। साम्राज्यवादियों का आपसी अन्तरविरोध भी एक कारण था। अन्तरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के कन्वेंशंस ने दबाव बनाया कि उपनिवेशवादी देश अपने देशों के अतिरिक्त उपनिवेशों में भी स्त्री मज़दूरों को कुछ अधिकार देने वाले क़ानून बनायें। लेकिन बदलाव के मुख्य कारण स्त्री मज़दूरों के संघर्ष, समाजवाद का प्रभाव और समूचे मज़दूर वर्ग के संघर्षों का अग्रगामी विकास थे।

भारत में स्त्री मज़दूरों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना उद्योगों का इतिहास। 1818 में बावरिया (हावड़ा) में पहली कपड़ा मिल खुली थी तो उसमें भारतीय स्त्री मज़दूरों को काम सिखाने के लिए लंकाशायर से फ़ैक्ट्री गर्ल्स लायी गयी थीं। चाय बागानों में शुरू से ही स्त्रियाँ मज़दूरी कर रही थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से जूट, टेक्सटाइल, माइनिंग आदि उद्योगों की स्थापना में तेजी आयी और इन सबमें स्त्री मज़दूर अच्छी-ख़ासी तादाद में काम कर रही थीं। उनकी दशा उतनी ही भयंकर थी जितनी 19 वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन की स्त्री मज़दूरों की थी (जिसका चित्रण पूँजी खण्ड-एक के कुछ पृष्ठों पर भी देखने को मिलता है)। उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें-नवें दशक में भारत के औद्योगिक मज़दूरों में 25 प्रतिशत हिस्सा स्त्री मज़दूरों का था। सभी मज़दूरों की दशा नारकीय थी, पर स्त्री मज़दूरों की दशा पुरुष मज़दूरों से दूनी बदतर थी। आर्थिक शोषण के अतिरिक्त सामाजिक तौर पर भी उन्हें लांछित-अपमानित जीवन जीना पड़ता था। समाज में कारख़ाना मज़दूर औरतों की छवि "बुरी स्त्री" की होती थी। भारत में पूँजी लगाकर ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने वाली उद्योगपति लॉबी से ख़तरा महसूस करने वाली मैंचेस्टर लॉबी के उद्योगपतियों के दबाव में 1881 में भारत का पहला कारख़ाना क़ानून बना था। उसी समय बहुतेरे ब्रिटिश और भारतीय समाज सुधारकों ने भारतीय स्त्री मज़दूरों की जीवन स्थिति में सुधार के लिए जब क़ानूनी क़दम की माँग की तो मैंचेस्टर लॉबी के ब्रिटिश उद्योगपतियों ने अपने स्वार्थवश उनका समर्थन किया था। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक तक मज़दूर हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की भागीदारी के अथवा उनके अपने स्वतन्त्र आन्दोलनों के दस्तावेज़ी प्रमाण नहीं मिलते हैं। दूसरे दशक के अन्तिम कुछ वर्ष भारतीय मज़दूर आन्दोलन के तेज़ी से संगठित होने के वर्ष थे और समूचा तीसरा दशक हड़तालों और मज़दूर संघर्षों की देशव्यापी लहर का दशक था। ग़ौरतलब है कि इस समय टेक्सटाइल उद्योग में लगभग 20 प्रतिशत, जूट उद्योग में 25 प्रतिशत तथा माइनिंग और प्लाण्टेशन में 50 प्रतिशत आबादी स्त्री मज़दूरों की थी। 1920 के दशक की मज़दूर हड़तालों में, बम्बई, कलकत्ता और अन्य औद्योगिक केन्द्रों में स्त्री मज़दूरों ने जुझारू भूमिका निभाई थी। स्त्री मज़दूर दब्बू और आसानी से नियन्त्रण में रखने लायक श्रमशक्ति होती है, मालिकों की यह धारणा टूटने लगी थी। तत्कालीन बम्बई के जुझारू ट्रेड यूनियन हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की अग्रणी भूमिका थी। इसी समय विशेष तौर स्त्री मज़दूरों की छँटनी की शुरुआत हुई, जिसके ख़िलाफ़ 1926 से 1933 के बीच स्त्री मज़दूरों की कई हड़तालें (अकेले 1932-33 में 12) हुईं। यूनियनों ने भी स्त्री मज़दूरों की इन हड़तालों का समर्थन किया, क्योंकि साझा हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की भूमिका अग्रणी रही थी और बम्बई के पुरुष मज़दूरों पर भी वाम प्रभाव के कारण पुरुषवादी संस्कारों का प्रभाव कम था। भूमिगत कामों में स्त्री मज़दूरों पर रोक के बाद कोयला उद्योग में स्त्रियों की संख्या में तेज़ गिरावट आयी। अब प्लाण्टेशन ही एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें स्त्रियाँ पर्याप्त संख्या में कार्यरत थीं। बंगाल के जूट उद्योग में स्त्री मज़दूरों की छँटनी इतनी तेज़ी से हुई कि उनका प्रतिशत भाग 25 प्रतिशत से घटकर 2 प्रतिशत हो गया।

औद्योगिक मज़दूरी के कामों से स्त्री मज़दूरों के बाहर किये जाने का यह सिलसिला 1950 के दशक तक, यानी सभी बड़े उद्योगों के मज़दूरों के लगभग पूर्ण यूनियनीकरण होने तक लगातार जारी रहा। 1950 के बाद राजकीय क्षेत्र में जितने भी बड़े कारख़ाने लगे, खदान शुरू हुए, बाँध बने, उनमें स्त्री मज़दूरों की भरती नगण्य रही। जो पहले से उद्योगों में काम कर रही थीं, वे स्त्रियाँ भी नेहरूकालीन आधुनिक "कल्याणकारी राज्य" और उद्योगीकरण के दौर में फिर से घरेलू चौहद्दियों के भीतर धकेल दी गयीं। हाँ, सदियों से घरेलू गुलामी के साथ-साथ जिन कृषि कार्यों और परम्परागत घरेलू एवं कुटीर उद्योगों (कताई, करघा, रंगसाज़ी आदि) में वे काम करती आई थीं, वह यथावत् जारी रहे। प्लाण्टेशन के अतिरिक्त निर्माण उद्योग और ईंट भट्ठा उद्योग में स्त्री मज़दूरों की भारी आबादी कार्यरत थी जहाँ काम के घण्टे या न्यूनतम मज़दूरी जैसे किसी भी क़ानूनी अधिकार का उनके लिए कोई मतलब नहीं होता था।

आख़िर क्या कारण था कि 1930 के दशक से उद्योगों से इतने बड़े पैमाने पर स्त्री मज़दूर बाहर होती रहीं और 1960 के आसपास तक उनकी भागीदारी बस नाममात्र की ही रह गयी? इसके कारणों को समझना स्त्री मज़दूरों के लिए और समूचे मज़दूर आन्दोलन के लिए बेहद ज़रूरी है।

पहली बात तो यह थी कि 1920 के दशक की हड़तालों में स्त्रियों की जुझारू भूमिका ने मालिकों के इस भ्रम को तोड़ दिया था कि स्त्री मज़दूरों को दबाकर रखना और उनसे सस्ते में ज़्यादा काम ले लेना अधिक आसान होता है। स्त्री मज़दूर अब बेहतर सुविधाओं और वेतन-वृद्धि की माँग अलग से और साझा यूनियन मंचों से खुलकर (विशेषकर बम्बई में) उठाने लगी थीं। उधर राष्ट्रीय आन्दोलन में भी स्त्रियों की भागीदारी बढ़ रही थी। उपनिवेशवादी शासक इन दोनों चीजों को जोड़कर देख रहे थे। श्रम संघर्षों के दबाव में तथा समाजवाद के प्रभाव को कम करने के लिए इसी समय दुनिया में क़ानून बनाकर मज़दूरों को कुछ छूट एवं अधिकार देने की लहर चल रही थी। अन्य साम्राज्यवादियों का भी दबाव था कि ब्रिटेन भी अपने उपनिवेशों में श्रम क़ानून लागू करे और इस माँग को एक हद तक मानना ब्रिटेन की भी मजबूरी थी। मज़दूर वर्ग को अतिसीमित ही सही, पर कुछ क़ानूनी अधिकार मिले और इसी क्रम में स्त्रियों को भी मातृत्व अवकाश जैसे कुछ क़ानूनी अधिकार मिले। पिछली हड़तालों ने मालिकों की निगाहों में स्त्री मज़दूरों की दब्बू और ग़ुलामों की तरह मेहनत करने वाली छवि को तो पहले ही तोड़ दिया था। अब उनकी श्रम शक्ति भी उतनी सस्ती नहीं रह गयी थी। इसलिए उन्हें औद्योगिक कार्यस्थलों से घरों की चारदीवारी में धकेलने की प्रक्रिया शुरू हुई। एक बार फिर वे उस "रिज़र्व सेना" का हिस्सा बना दी गयीं जिसका भय दिखलाकर (वह मन्दी का ज़माना था) मज़दूर वर्ग की श्रम शक्ति सस्ती से सस्ती दरों पर निचोड़ी जा सकती थी।

लेकिन इस पूरे मामले का एक दूसरा पहलू भी है, जो राजनीतिक पहलू होने के नाते, मज़दूर वर्ग के लिए और स्त्री मज़दूरों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। 1930 के दशक में मज़दूर आन्दोलन के नेतृत्व ने मज़दूर हितों को लेकर बातचीत-सौदेबाज़ी के दौरान स्त्री मज़दूरों की माँगों को हमेशा दरकिनार किया और स्त्री मज़दूरों की छँटनी को उन्होंने कभी भी मुद्दा नहीं बनाया। तब हालाँकि कम्युनिस्ट पार्टी अभी संशोधनवादी नहीं बनी थी, लेकिन दक्षिणपन्थी और अर्थवादी भटकाव उसमें गम्भीर रूप में मौजूद थे। हम याद करें कि जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशों में संशोधनवादी पार्टियाँ स्त्रियों के कारख़ानों में मज़दूरी करने और ट्रेड यूनियन गतिविधियों में भाग लेने की विरोधी थी। पहले महायुद्ध के बाद, जर्मन सरकार ने जब लाखों महिला मज़दूरों को नौकरी से घरों में वापस भेज दिया था तो संशोधनवादी पार्टी व उसकी यूनियनों से जुड़े पुरुष मज़दूरों ने इस सरकारी फैसले का खुलकर समर्थन किया था। दुनिया में कहीं भी संशोधनवादी पार्टियाँ और उनसे जुड़ी पुछल्ली यूनियनें स्त्री मज़दूरों की समस्याओं और मसलों की यदि रस्मी तौर पर अपने चार्टर में शामिल कर भी लेती हैं तो उनपर कभी ज़ोर नहीं देती।

जो पार्टियाँ और उनकी यूनियनें केवल मज़दूरों के तात्कालिक आर्थिक हितों को लेकर ही लड़ने में मशगूल रहती हैं और पूँजीवाद विरोधी व्यापक वर्गीय मोर्चेबन्दी और मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन के बारे में सोचती तक नहीं, वे स्त्री मज़दूरों के हितों की लड़ाई क़तई नहीं लड़ सकतीं। सत्ताधारियों से सौदेबाज़ी में स्त्री मज़दूरों के हितों का ही उनका नेतृत्व सबसे पहले सौदा करता है। पूँजीपति स्त्रियों की सहस्राब्दियों पुरानी पारिवारिक गुलामी का लाभ उठाकर उन्हें सबसे सस्ती श्रम शक्ति का आरक्षित स्रोत बनाये रखना चाहते हैं। स्वयं पुरुष मज़दूरों का बड़ा भाग भी पुरुष स्वामित्ववाद का शिकार होता है। वह सोचता है कि स्त्री बाहर जाकर काम करने के बजाय घर में ही बाल-बच्चे पालते हुए पीस रेट पर या पार्ट टाइम कुछ कर ले तो बेहतर है। वेतन यदि कुछ बेहतर हो जाये तो वह चाहता है कि औरत सिर्फ़ घर की साज-सम्हाल करे। पिछड़े समाजों में औरतों के बाहर काम करने को मर्द मज़दूर बेइज़्ज़ती मानता है और हिफ़ाज़त के नामपर उसे घरेलू गुलामी की बेड़ियों में क़ैद रखना चाहता है। जो यूनियनों के सुधारवादी सौदेबाज़ नेता होते हैं वे ख़ुद मर्दवादी होते हैं और पुरुष मज़दूरों की मर्दवादी मानसिकता से वे लड़ भी नहीं पाते क्योंकि उन्हें डर लगता है कि इससे उनका अपना समर्थन-आधार खिसक जायेगा। वे सर्वहारा वर्ग को यह बता ही नहीं सकते कि पूँजी के ख़िलाफ़ लड़ाई को तभी जीत की दिशा में बढ़ाया जा सकता है जब औरत-मर्द और जाति-धर्म का भेद मिटाकर सभी मज़दूर साथ आयें। आधी आबादी को घरों में क़ैद रखकर पुरुष मज़दूर अपनी मुक्ति नहीं हासिल कर सकते। जो आम पुरुष मज़दूर होता है, उसे यदि राजनीतिक रूप से शिक्षित नहीं किया जाये तो नाक के ठीक सामने का सच उसे यही दीखता है कि कम मज़दूरी पर औरतों के काम करने से उसकी नौकरी ख़तरे में पड़ जायेगी। जबतक उसे राजनीतिक-सांस्कृतिक रूप से शिक्षित नहीं किया जायेगा तब तक वह नहीं समझेगा कि स्त्री-पुरुषों की समान मज़दूरी और स्त्री मज़दूरों की माँगों को भी उठाकर जब वह लड़ेगा तो मज़दूर आन्दोलन की ताक़त कितनी बढ़ जायेगी। जबतक उसे राजनीतिक रूप से सचेत नहीं बनाया जायेगा तबतक बेरोज़गारों और स्त्री श्रम शक्ति की रिज़र्व सेना को बनाकर श्रम बाज़ार में पूँजी की मोल-तोल की ताक़त बढ़ाने तथा बेरोज़गारी के मूल कारणों के बारे में और पूँजीवादी शोषण के बुनियादी रहस्य के बारे में वह ख़ुद नहीं समझ पायेगा। संशोधनवादी यह काम नहीं करते, क्योंकि उन्हें मज़दूर मुक्ति के लक्ष्य से कोई लेना-देना ही नहीं होता।

यूरोप-अमेरिका में, विश्वव्यापी मन्दी की समस्या के समाधान के लिए और समाजवाद के प्रभाव में आ रहे मज़दूरों के तुष्टीकरण के लिए, कीन्स द्वारा प्रस्तुत कल्याणकारी राज्य के नुस्ख़े के तहत, पूँजी और श्रम के बीच के अन्तरविरोधों को कम करने वाला एक समझौता फ़ार्मूला निकाला गया। राष्ट्रीय आय में श्रम की भागीदारी सुनिश्चित की गयी, राज्य के ख़र्च से माँग प्रबन्धन की तरक़ीब निकाली गयी तथा मज़दूरों की सापेक्षिक रोज़गार सुरक्षा और अन्य लाभों की गारण्टी देने वाला एक व्यापक ढाँचा खड़ा किया गया। भारत जैसे नवस्वाधीन देशों में जनता की गाढ़ी कमाई से (और नियन्त्रित विदेशी पूँजी व तकनोलॉजी के सहकार के सहारे) पब्लिक सेक्टर में बुनियादी और ढाँचागत उद्योगों का जो विराट ढाँचा खड़ा किया गया, उसमें भी कीन्सवादी नुस्ख़े ही अपनाये गये। इन सेक्टरों के संगठित, यूनियनीकृत मज़दूरों को बेहतर वेतन और सेवा शर्तें मिलीं। फलतः जो निजी क्षेत्र के बड़े उद्योग थे, उनके संगठित मज़दूरों ने भी बेहतर सौदेबाज़ी करके अच्छी तनख़्वाहें और रोज़गार सुरक्षा हासिल की। लेकिन इन पिछड़े देशों की विडम्बना यह थी कि अधिकांश श्रम शक्ति अभी भी हाशिए पर थी। वह कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त करघा,

(पेज 7 पर जारी)

अमेरिकी साम्राज्यवाद की अफ़गानिस्तान जंग के दस वर्ष

जंग आख़िर जनता ही जीतेगी...

अफ़गानिस्तान पर अमेरिका के कब्ज़े को दस वर्ष हो चुके हैं। आतंकवाद का बहाना बना कर सन् 2001 में अमेरिकी साम्राज्यवादी शासकों ने अफ़गानिस्तान पर हमला करके इस देश पर कब्ज़ा जमा लिया था। अफ़गानिस्तान में कहने को तो वहाँ की अपनी सरकार है लेकिन वह अमेरिका शासकों की कठपुतली के सिवा और कुछ नहीं। इस छोटे से देश में इस समय लगभग डेढ़ लाख विदेशी सैनिक हैं जिसमें अमेरिका के एक लाख और साम्राज्यवादी देशों के गुट नाटो के पचास हज़ार सैनिक शामिल हैं। अमेरिकी शासक यह झूठ असंख्य बार बोल चुके हैं कि यह जंग आतंकवाद को ख़त्म करके दुनिया में शांति स्थापित करने के लिए लड़ी जा रही है। अफ़गानिस्तान पर अमेरिकी कब्ज़े के 10 वर्ष अमेरिकी शासकों के इन दावों को तार-तार कर चुके हैं। दुनिया के सबसे बड़ा आतंकवादी अमेरिकी साम्राज्यवाद हमेशा से मध्य पूर्व और एशिया महाद्वीप में दबदबा क़ायम करने के लिए जीतोड़ कोशिशें करता रहा है। इस मामले में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर और पेंटागन इमारतों पर 9 सितम्बर 2001 को हुए हमले अमेरिकी शासकों के लिए वरदान साबित हुए। 7 अक्टूबर 2001 को अमेरिका और ब्रिटेन की फ़ौजों ने अफ़गानिस्तान पर ज़बर्दस्त बमबारी के साथ हमला बोल दिया। जल्दी ही इसमें दूसरे साम्राज्यवादी देश भी शामिल हो गये। अब इस बात के बहुत से पुख़्ता सबूत सामने आ चुके हैं कि इस हमले की योजना 9 सितम्बर के हमले के महीनों पहले ही बना ली गयी थी।

अमेरिका को यह खुशफ़हमी थी कि अफ़गानिस्तान पर कब्ज़ा जमाना काफ़ी आसान होगा। लेकिन अफ़गान जनता पर ढाये गये निर्मम अत्याचारों के बाद भी अफ़गानिस्तानी जनता की आज़ादी की आवाज को दबाया नहीं जा सका। अमेरिकी जनता ने अपने देश पर कब्ज़े के इन 10 वर्षों के दौरान अमेरिकी हुक्मरानों को एक दिन भी चैन की नींद नहीं सोने नहीं दिया है। अमेरिकी शासक आज भले ही कामयाबी हासिल कर पाने के कितने भी झूठे दावे क्यों न करें लेकिन असल में अमेरिका अफ़गानिस्तान जंग हार चुका है। विदेशी सैनिक पस्तहिम्मती का शिकार हो चुके हैं। अमेरिकी साम्राज्यवाद के लिए न तो अफ़गानिस्तान में टिके रहना सम्भव है और न ही वहाँ से भाग पाना इतना आसान है। आगे कुआँ तो पीछे खाई है।

अफ़गानिस्तान जंग अमेरिकी इतिहास की सबसे लम्बी जंग बन चुकी है। लेकिन इतनी लम्बी जंग लड़ने के बाद भी अमेरिका अफ़गान जनता पर नियंत्रण नहीं कर सका है। और ऐसा अब सम्भव भी नहीं है। दुनिया आज वहीं नहीं खड़ी है जहाँ उपनिवेशवाद के दौर में थी। आज किसी देश की जनता को उपनिवेशवाद के दौर की तरह ग़ुलाम बना पाना सम्भव नहीं रह गया है। अफ़गानिस्तान हो या इराक, ये इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। साम्राज्यवाद को दुनिया की जनता कब्र में लिटाकर ही दम लेगी।

अफ़गानिस्तान पर हमला करते समय अमेरिकी हुक्मरानों ने दावा किया था कि अफ़गानिस्तान से तालिबान को ख़त्म कर वहाँ जनतंत्र स्थापित किया जायेगा और अफ़गान लोगों की ज़िन्दगी की पूरी तरह कायापलट कर दी जायेगी। लेकिन अमेरिकी शासकों के दावों की हवा निकल चुकी है। अफ़गानिस्तान में उसने अपनी कठपुतली सरकार बिठा दी मगर हामिद करजई सरकार से अफ़गान जनता घोर नफ़रत करती है। जनता की जीवन परिस्थितियाँ बदतर से बदतर होती चली गई हैं। स्त्रियों की हालत भी पहले से कहीं बुरी होती गयी है। अफ़गान जनता को भयानक अत्याचारों का सामना करना पड़ा है। सामूहिक कत्लेआम, बमबारी, रात के दौरान पड़ने वाले छापों और धरपकड़, यातनाओं, गुप्त कत्लों, ड्रोन हमलों के ज़रिए साधारण अफ़गान नागिरकों को निशाना बनाया जाता रहा है। अमेरिकी बम, मिसाइलें और गोलियाँ हज़ारों बेकसूर पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को निशाना बना चुके हैं।

विदेशी सैनिक अक्सर अफ़गानी घरों में घुसकर मारपीट करते हैं, तलाशी लेते हैं, लोगों को पकड़कर ले जाते हैं और यातनाएँ देते हैं। लोगों पर बिना चेतावनी दिये गोलियाँ दाग दी जाती हैं और मारे गये बेगुनाह लोगों को आतंकवादी बता दिया जाता है। एक छोटे नगर गारदेज़ में एक परिवार के छह सदस्यों को गोलियों से मार दिया गया। इनमें से तीन गर्भवती स्त्रियाँ थीं। बचे लोगों को पूछताछ के बहाने हिरासत में रखा गया। उन्हें बर्बरतापूर्वक यातनाएँ दी गयीं।

अफ़गान जनता विदेशी सैनिकों द्वारा स्त्रियों पर किये गये जुल्मो-सितम को कभी नहीं भूलेगी। साथ ही आज अफ़गान स्त्रियाँ कुपोषण का भयानक रूप से शिकार हैं। अफ़गानिस्तान में स्वास्थ्य सुविधाओं की बदतर हालत ने उनकी हालत और भी भयंकर बना दी है। कट्टर इस्लामी युद्ध सरदारों को अमेरिकी शासकों ने अफ़गानिस्तान की सत्ता में लाकर स्त्रियों के रहे-सहे अधिकारों से भी वंचित कर दिया है। इन इस्लामी कट्टरपंथियों ने बेहद स्त्री-विरोधी नीतियाँ लागू की हैं। करजई सरकार ने क़ानून बनाकर शादी में बलात्कार को मान्यता दे दी है। स्त्रियों को अधिकार देने के नाम पर दो क़ानून पास किये गये हैं – एक अपने पति की आज्ञापालन का अधिकार और दूसरा नमाज पढने का अधिकार लेकिन मस्जिद में नहीं।

बिना पायलट के ड्रोन हवाई जहाजों के ज़रिए हमले लगातार बढ़ते चले गए हैं। बराक ओबामा के शासनकाल में ड्रोन हमलों का इस्तेमाल ख़ास तौर पर काफ़ी बढ़ गया है। आज रोज़ाना कम से कम 20 ड्रोन हमले किये जाते हैं। एक साल पहले यह संख्या आधी थी। जनवरी 2009 से फरवरी 2010 तक अमेरिकी सैनिकों ने अफ़गान जनता पर 184 मिसाइलों और 66 लेजर बमों से हमले किये। बहाना हमेशा आतंकवादी छुपे होने के शक को बनाया जाता है और निशाना बनाया जाता है नागरिकों को।

22 जून 2011 को अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा ने ऐलान किया कि अफ़गानिस्तान से 32000 सैनिक वापस बुलाये जा रहे हैं। उन्होंने इसे अफ़गानिस्तान जंग ख़त्म करने की शुरुआत बताया। ओबामा ने सत्ता सम्भालने से पहले यह ऐलान किया था कि उनकी सरकार अफ़गानिस्तान जंग रोक देगी। जब ओबामा ने 2009 में अमेरिकी सत्ता सम्भाली थी उस समय अफ़गानिस्तान में 32000 अमेरिकी सैनिक थे। लेकिन ओबामा ने यह संख्या एक लाख तक पहुँचा दी। अब अगर 32 हज़ार वापस भी बुला लिये जाते हैं तो भी यह संख्या ओबामा शासनकाल की शुरुआत के समय से दोगुने से भी अधिक है।

वैसे भी अफ़गानिस्तान में जिस आतंकवाद के खिलाफ़ जंग के नाम पर अफ़गान जनता का क़त्लेआम किया जा रहा है उस आतंकवाद का जन्मदाता खुद अमेरिका है। सन् 1979 में अमेरिका के साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्दी सोवियत संघ द्वारा अफ़गानिस्तान पर कब्ज़ा किया गया। अपने इस प्रतिद्वन्द्वी को हराने के लिए अमेरिका ने तीन अरब डालर से भी अधिक की वित्तीय और हथियारों की मदद कट्टरपंथी इस्लामी गुटों को दी। ओसामा बिन लादेन ने भी अमेरिकी शासकों की मदद से ही आतंकवादी गतिविधियाँ शुरू की थीं। इसलिए अमेरिकी शासकों का यह प्रचार कि अफ़गानिस्तान जंग आतंकवाद के खिलाफ़ और शांति के लिए लिए लड़ी जा रही है एक सफ़ेद झूठ है। अफ़गानिस्तान पर कब्ज़ा करके अमेरिका दक्षिण एशिया में अपनी सैनिक चौकी स्थापित करना चाहता था। कास्पियन सागर में मिलने वाले तेल पर भी उसकी निगाहें लगी थीं।

अफ़गानिस्तान जंग अमेरिकी इतिहास की सबसे लम्बी जंग बन चुकी है। लेकिन इतनी लम्बी जंग लड़ने के बाद भी अमेरिका अफ़गान जनता पर नियंत्रण नहीं कर सका है। और ऐसा अब सम्भव भी नहीं है। दुनिया आज वहीं नहीं खड़ी है जहाँ उपनिवेशवाद के दौर में थी। आज किसी देश की जनता को उपनिवेशवाद के दौर की तरह गुलाम बना पाना सम्भव नहीं रह गया है। अफ़गानिस्तान हो या इराक, ये इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। साम्राज्यवाद को दुनिया की जनता कब्र में लिटाकर ही दम लेगी।

- लखविन्दर

स्त्री मज़दूरों को साथ लिये बिना मज़दूर आन्दोलन बड़ी जीतें नहीं हासिल कर सकता!

(पेज 6 से आगे)

रंगसाज़ी, ईंटभट्टा, निर्माण उद्योग आदि में काम करती थी या बड़ी परियोजनाओं में ठेकेदारों के मज़दूरों के रूप में काम करती थी। स्त्री मज़दूर भी इन्हीं क्षेत्रों में काम करती थीं जहाँ न यूनियनें थीं न श्रम क़ानूनों की कोई सुरक्षा (वैसे संशोधनवादी पार्टियों ने रस्मी तौर पर कुछ साइनबोर्ड ज़रूर लटका रखे थे)। भारी मशीनरी, माइनिंग, बिजली आदि उद्योगों में स्त्रियाँ थी ही नहीं। 1930 के पहले टेक्सटाइल, जूट आदि जिन उद्योगों में उनकी भागीदारी 20-30 प्रतिशत तक थी वह अब घटकर 2 प्रतिशत तक पहुँच चुकी थी। मज़दूर संघर्षों में जुझारू भागीदारी का 40-50 वर्षों पुराना उनका इतिहास भुलाया जा चुका था। घरेलू गुलामी के अलावा, सर्वाधिक असंगठित सर्वहारा कतारों में वे अभी भी हाड़तोड़ मेहनत कर रही थीं और हाशिए का जीवन बिता रही थीं, लेकिन मज़दूर राजनीति के परिदृश्य पर उनकी आवाज़ कहीं मौजूद नहीं थी। अर्थवादी राजनीति ने बड़े उद्योगों के संगठित मज़दूरों को जो सुविधाएँ दिलवायी थीं, उनमें स्त्री मज़दूरों की कोई हिस्सेदारी नहीं थी। और मज़दूर आन्दोलन को इसका दण्ड जल्दी ही भुगतना पड़ा। यूँ तो दुनिया के स्तर पर पूँजीवादी लूट के तौर-तरीक़ों में बदलाव की प्रक्रिया 1980 का दशक शुरू होते ही शुरू हो गयी थी, पर भारत में निजीकरण-उदारीकरण के रूप में यह लहर 1990 के दशक में आयी। राज्य ने कीन्सवादी नुस्ख़ों का परित्याग कर दिया। नयी तकनीक और नये तौर-तरीक़ों ने अनौपचारिकीकरण, ठेकाकरण की मुहिम चला दी। संगठित क्षेत्र के सुविधाप्राप्त मज़दूरों का हिस्सा सिकुड़कर छोटा से छोटा होता चला गया। ज़्यादा काम ठेके पर, पीस रेट पर, असंगठित क्षेत्र में होने लगे और बड़े-बड़े कारख़ानों तक में रोज़गार सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा में कटौतियाँ होने लगीं तथा थोड़े से कुशल, अनुभवी मज़दूरों को छोड़कर ज़्यादा काम ठेके पर ही कराया जाने लगा। क़रीब साठ वर्षों बाद फिर एक उल्टी प्रक्रिया चली। श्रमिक आबादी में औरतों की भागीदारी तेज़ी से बढ़ने लगी।

स्त्री सर्वहारा की भारी संख्या आज नयी तकनोलॉजी आधारित उत्पादन कार्यों में लगी है, पर सारा काम अनौपचारिक क्षेत्र में, ठेके पर, दिहाड़ी पर और पीसरेट पर होता है। इन स्त्री मज़दूरों को और तमाम असंगठित मज़दूरों को किसी प्रकार की रोज़गार सुरक्षा या सामाजिक सुरक्षा हासिल नहीं है। श्रम क़ानूनों का इनके लिए कोई मतलब नहीं है। आगे हम इस नये ढंग की पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में करोड़ों स्त्री मज़दूरों के अतिशोषण की, उनकी माँगों की और उनके संघर्ष की नयी तैयारियों की चर्चा करेंगे।

(अगले अंक में जारी)

अमेरिका है दुनिया का सबसे बड़ा आतंकवादी!

भूमण्डलीय आतंकवादी के चुनिन्दा अपराध

अमेरिकी साम्राज्यवादी पूरी दुनिया के पैमाने पर आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का दावा करते हैं। सच्चाई यह है कि स्वयं अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा आतंकवादी देश है। आज जिन इस्लामी कट्टरपन्थियों से लड़ने के नाम पर इराक़, अफ़गानिस्तान और दुनिया के कई देशों में अमेरिका बमबारी, नरसंहार और सैनिक कब्ज़ों, का सिलसिला जारी रखे हुए है, वे उसी के पैदा हुए भस्मासुर हैं। अमेरिका आतंकवाद के नाम पर दुनिया की जनता के विरुद्ध युद्ध छेड़े हुए है। वह अपने साम्राज्यवादी वर्चस्व के लिए युद्ध और आतंक का क़हर बरपा कर रहा है। अमेरिकी सत्ताधारियों के चुनिन्दा ऐतिहासिक अपराधों की एक सूची नीचे प्रस्तुत की जा रही है :

अमेरिका के मूल निवासियों का क़त्लेआम : संयुक्त राज्य अमेरिका के संस्थापक जब उत्तर अमेरिका पहुँचे, उस समय से लेकर बीसवीं शताब्दी तक मूल निवासियों के नरसंहार का और उनकी ज़मीनें हड़पने का सिलसिला लगातार चलता रहा। ऐसी बहुतेरी घटनाओं में "आँसुओं का रास्ता" (ट्रेल ऑफ टीयर्स) नाम से प्रसिद्ध वह ऐतिहासिक घटना भी शामिल है जब दक्षिणपूर्व अमेरिका के हज़ारों मूल वाशिन्दों को दक्षिण-पूर्वी अमेरिका से उजाड़कर ओक्लाहामा की ओर कूच करने के लिए मजबूर किया गया। ऐसे 15000 चेरोकी लोगों में से 4000 यात्रा के दौरान ही मर गये।

अश्वेतों की ग़ुलामी : अफ़्रीका से ले जाये गये अश्वेत ग़ुलामों से फार्मों पर काम कराते समय, उनके साथ पशुवत व्यवहार करने और बर्बर ढंग से यन्त्रणा देने का सिलसिला उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक जारी रहा। दास प्रथा पर रोक के बाद भी अश्वेत आबादी उत्पीड़न और भेदभाव का शिकार बनी रही। अश्वेतों की एक छोटी सी आबादी ऊपर उठकर आज कुलीन मध्यवर्ग में शामिल हो चुकी है, लेकिन बहुसंख्यक अश्वेत आज भी सामाजिक अलगाव और अपमानजनक भेदभाव के शिकार हैं।

मेक्सिको पर हमला, 1846-1848 : अमेरिकी सेनाओं ने मेक्सिको पर हमला करके मेक्सिकी बन्दरगाहों की घेरेबन्दी कर ली और मेक्सिको सिटी पर कब्ज़ा कर लिया। बदले में मेक्सिको को अपना बहुत बड़ा भूभाग अमेरिका को देना पड़ा जिसमें न्यू मेक्सिको, कैलिफोर्निया और उत्तरी मेक्सिको का बहुत बड़ा हिस्सा शामिल था।

स्पेनी-अमेरिकी युद्ध, 1898 : क्यूबा की स्वतन्त्रता को समर्थन देने की आड़ में अमेरिका ने प्रशान्त महासागर और कैरीबियन में स्थित स्पेनी सेनाओं पर हमला किया और उन्हें पराजित करने के बाद स्पेनी उपनिवेशों – क्यूबा, प्यूर्टोरिको, गुआम और फिलिप्पीन्स पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

फिलिप्पीन्स पर हमला, 1899 : फिलिप्पीन्स की उपनिवेशवाद-विरोधी शक्तियों को अमेरिका ने निर्दयतापूर्वक कुचल दिया। प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक मार्क ट्वेन के शब्दों में, "...उन्हें दफ़्न कर दिया गया, उनके खेतों को तबाह कर दिया गया, गाँवों को जला दिया गया, विधवाओं और अनाथ बच्चों को घरों से बाहर धकेल दिया गया, दर्जनों देशभक्त नेताओं को देश निकाला दे दिया गया और बचे हुए लाखों फिलिप्पीन्स निवासियों को ग़ुलाम बना लिया गया।"

हैती पर हमला, 1915 : अमेरिका ने हैती पर हमला करके कब्ज़ा कर लिया। अमेरिकी नौसैनिक सीधे हैतियन नेशलन बैंक में पहुँचे और सोने का समूचा आरक्षित भण्डार उठाकर न्यूयॉर्क सिटी पहुँचा दिया। प्रतिरोध को अमेरिकी सेना ने बर्बरतापूर्वक कुचल दिया। नेताओं की हत्या कर दी गयी, बस्तियाँ जलाकर ज़मींदोज़ कर दी गयीं और 15,000 से 30,000 के बीच हैतीवासियों को मौत के घाट उतार दिया गया।

तुल्सा नरसंहार, 1921 : पुलिस, कू-क्लक्स-क्लान के फासिस्ट गुण्डों और श्वेत नस्लवादियों की एक भीड़ ने तुल्सा (ओक्लाहामा) में अश्वेत आबादी पर हमला बोलकर सैकड़ों लोगों को मार डाला और घरों को लूट लिया। फिर पुलिस ने छः जहाज़ों से बम गिराकर पूरी बस्ती को जला कर ख़ाक कर दिया।

हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराना और टोक्यो पर फायरबॉम्बिंग, 1945 : दूसरे महायुद्ध के अन्त में, जब जापान की पराजय आसन्न थी, उस समय अपनी साम्राज्यवादी चौधराहट सिद्ध करने और समाजवादी शिविर को आतंकित करने के लिए, अमेरिका ने हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराये। इसमें 2 लाख नागरिक तुरन्त मारे गये। लाखों की आबादी वर्षों तक विकिरण जनित बीमारियों से घुट-घुटकर मरती रही और दशकों तक विकिरण जनित विकृतियों से ग्रस्त बच्चे पैदा होते रहे। टोक्यो पर बमबारी से लगी आग में हज़ारों लोग मारे गये और लाखों बेघर हो गये।

कोरिया, 1950-1953 : कोरिया पर हमले के दौरान अमेरिका ने जितने बम और तोप के गोले बरसाये, उतना उसने पूरे दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान भी नहीं इस्तेमाल किया था। अमेरिकी वायुसेना के जनरल कर्टिस ल में ने दावा किया था कि अमेरिकी जहाज़ों ने बमबारी करके उत्तर कोरिया के हर छोटे-बड़े शहर को जलाकर खाक कर दिया था।

वियतनाम, 1965-1975 : वियतनामी जनता के मुक्तियुद्ध को कुचलने की कोशिशों के दौरान अमेरिका ने वियतनाम तथा पड़ोसी देशों – कम्पूचिया और लाओस पर कुल 70 लाख टन बम गिराये थे। हज़ारों गाँव सेना ने उजाड़ दिये। 'माई लाई नरसंहार' जर्मन नात्सियों द्वारा किये जाने वाले नरसंहारों जैसी ही बर्बर घटना थी। वियतनामी मुक्तियुद्ध के इन दस वर्षों के दौरान लगभग 30 लाख वियतनामी मारे गये।

क्यूबा, 1962 : सी.आई.ए. ने कुछ क्यूबाई आप्रवासियों को ट्रेनिंग और हथियार देकर तोड़फोड़ एवं विद्रोह उकसाने के लिए क्यूबा भेजा। गत आधी सदी से क्यूबा की आर्थिक घेरेबन्दी जारी है। सी.आई.ए. फिदेल कास्त्रो की हत्या की सौ से भी अधिक कोशिशें कर चुकी है।

डोमिनिकन गणराज्य, 1965 : 20,000 अमेरिकी नौसैनिकों ने एक क्रान्तिकारी विद्रोह को कुचलने के लिए हमला किया जिसमें 6000 से 10,000 के बीच डोमिनिकन लोग मारे गये।

ग्वाटेमाला, 1878-1944 : अमेरिका-प्रायोजित मृत्यु-दस्ते (डेथ स्क्वाड) की सत्ता ने 400 माया (मूल निवासी) गाँवों को उजाड़ दिया। नृशंसता और यातना की जघन्यतम मिसालें कायम की गयीं और दसियों हज़ार ग्रामीणों को मौत के घाट उतार दिया गया।

पनामा, 1989 : एक अमेरिकी हमले के दौरान 2000 से 6000 के बीच लोग मारे गये। इनमें ज़्यादातर ग़रीब और मज़दूर बस्तियों के लोग थे जिन्हें सामूहिक क़ब्रों में दफ़्न कर दिया गया।

ऑपरेशन डेज़र्ट स्टॉर्म 1991 : इराक पर पहले अमेरिकी हमले के दौरान लाखों लोग मारे गये या घायल हुए। हमले के दौरान, सिर्फ़ एक राजमार्ग पर भागते हुए (जिन्हें बाद में "हाइवे ऑफ डेथ" नाम से ख्याति मिली) 48 घण्टों के भीतर 25,000 नागरिक और सैनिक मारे गये।

सोमालिया, 1993 : अमेरिकी सेना के हेलिकॉप्टर ने एक भीड़ पर मिसाइल दागा जिससे 100 निहत्थे लोग मारे गये और कई घायल हुए। ग्रामीणों की फ़सलें और घर जला दिये गये और मवेशी मार दिये गये।

ईरानी यात्री विमान को मार गिराना, 1988 : अमेरिकी सेना ने ईरानी क्षेत्र के ऊपर उड़ रहे एक ईरानी यात्री विमान को मार गिराया जिसमें सवार कुल 290 यात्री (66 बच्चों सहित) मारे गये। अमेरिका ने इस घटना पर कोई खेद नहीं जताया। तत्कालीन राष्ट्रपति एच. डब्ल्यूबुश ने कहा, "अमेरिका की ओर से मैं कभी भी माफ़ी नहीं माँगूगा। तथ्य जो भी हों, मैं उनकी परवाह नहीं करता।"

अफ़गानिस्तान, 2001 से लेकर अबतक : अमेरिकी नेतृत्व में हुए हमले में हज़ारों लोग मारे जा चुके हैं। अमेरिकी अगुवाई में नाटो सेनाओं ने शादी की पार्टियों तक पर बमबारी की, घर-घर की तलाशी ली गयी, जेलों में हज़ारों बेगुनाह नागरिक टॉर्चर किये गये और तालिबान व अल क़ायदा आतंकियों के छिपे होने के संदेह में गाँव के गाँव तबाह कर दिये गये। यह सिलसिला अभी तक जारी है।

इराक़ पर हमला और कब्ज़ा, 2003 से अब तक : संहारक रासायनिक हथियार रखने (जो कभी नहीं मिले) और अल क़ायदा से साठगाँठ (जो कभी साबित नहीं हुआ) का आरोप लगाकर अमेरिका ने इराक़ पर कब्ज़ा जमाया। इस दूसरे इराकी युद्ध और अमेरिकी कब्ज़े के दौरान एक लाख इराकी नागरिक मारे जा चुके हैं और 40 लाख अपने घरों से उजड़ने को मजबूर हुए हैं।

हैती, 2004 : 29 फरवरी 2004 को अमेरिकी सेना ने हैती के राष्ट्रपति अरिस्टाइड का अपहरण कर लिया और उन्हें बलपूर्वक एक विमान में बैठाकर मध्य अमेरिकी गणराज्य भेज दिया। कई दिनों तक अमेरिकी नौसैनिक राजधानी पर कब्ज़ा जमाये रहे।

टॉर्चर चैम्बर्स : अबू ग़रेब (इराक़), गुआन्तानामो (क्यूबा) और बगराम (अफ़गानिस्तान) के अमेरिकी टार्चर चैम्बर्स में दुनिया भर के लोगों को पकड़कर लाया जाता है और तरह-तरह से यन्त्रणाएँ दी जाती हैं। और बिना कोई मुकदमा चलाये मार डाला जाता है। ऐसे कई यन्त्रणा शिविर मध्यपूर्व में भी हैं और यूरोप में भी अमेरिका के कई गुप्त जेलख़ाने हैं।

ड्रोन हमले : 2009 से लेकर अब तक ड्रोन नामक मानवरहित विमानों से आतंकवादियों के सफ़ाये के नाम पर किये जाने वाले हमलों में, पाकिस्तान, अफगानिस्तान और यमन में हज़ारों निर्दोष नागरिक मारे जा चुके हैं और बस्तियों की भारी तबाही हुई है।

ऊपर जो सूची दी हुई है, वह अमेरिकी साम्राज्यवादियों के चुनिन्दा युद्ध-अपराधों और आतंकवादी कुकृत्यों की एक संक्षिप्त सूची है। अमेरिकी कम्पनियाँ पूरी दुनिया की अकूत प्राकृतिक सम्पदा को और आम मेहनतकश जनता को लूटकर तबाह कर रही हैं। भोपाल गैस त्रासदी में हुए नरसंहार को इतिहास पूँजीवाद के अभिशाप के रूप में हमेशा याद रखेगा। दुनिया के कई हिस्सों में ये कम्पनियाँ पर्यावरण विनाश का ताण्डव रच रही हैं। केवल युद्ध द्वारा ही नहीं, खनिजों के दोहन के चलते और एग्री बिज़नेस कम्पनियों द्वारा उजाड़े जाने के चलते भी तीसरी दुनिया के देशों में सालाना करोड़ों की आबादी विस्थापित होती है और करोड़ों लोगों को भरपेट भोजन तक नसीब नहीं होता।

दूसरी ओर अमेरिकी समृद्ध लोग अपनी विलासिता पर जितना ख़र्च करते हैं

(पेज 9 पर जारी)

चुनिन्दा अमेरिकी हमले,
जिनमें सी.आई ए. से सहायता-प्राप्त सैन्य कार्रवाइयाँ और कठपुतली सत्ताओं द्वारा छेड़े गये युद्ध भी शामिल हैं

अर्जेण्टीना 1890; चीले 1891; हैती 1891; हवाई 1893; ब्लूफील्ड, निकारागुआ 1894 और 1899; चीन 1894-95; कोरिया 1894-96; कोरिण्टो, निकारागुआ 1896; चीन 1898-1900; फिलीप्पीन्स 1898-1910, क्यूबा और प्यूर्टो रिको 1898-1902; सान जुआन देल सुर, निकारागुआ 1898; समोआ 1899; पनामा 1901-14; पनामा कनाल ज़ोन 1914; होण्डुरास 1903; डोमिनिकन रिपब्लिक 1903-04; कोरिया 1904-05; क्यूबा 1906-09; निकारागुआ 1907; होण्डुरास 1907; पनामा 1908; निकारागुआ 1910; क्यूबा 1912; पनामा 1912; होण्डुरास 1912; निकारागुआ 1912; वे मेक्सिको (हेराक्रूज़) 1914; डोमिनिकन रिपब्लिक 1914; मेक्सिको 1914-18; हैती 1914-34; डोमिनिकन रिपब्लिक 1916-24; क्यूबा 1917; सोवियत संघ 1918; पनामा 1918; होण्डुरास 1919; ग्वाटेमाला 1920; तुर्की 1922; चीन 1922; होण्डुरास 1924; पनामा 1925; अल सल्वाडोर 1932; कोरिया 1950-53; प्यूर्टो रिको 1950; ग्वालेमाला 1954; मिस्र 1956; लेबनान 1958; पनामा 1958; क्यूबा 1962; डोमिनिकन रिपब्लिक 1965; वियतनाम 1965-75; ग्वाटेमाला 1967; ओमान 1970; ईरान 1980; अल सल्वाडोर 1981; निकारागुआ 1981; ग्रेनाडा; 1982; लेबनान 1982; होण्डुरास 1983; बोलीविया 1986; पनामा 1989; इराक़ 1991; युगोस्लाविया 1992; सोमालिया 1993; हैती 1994; लाइबेरिया 1996; सूडान 1998; अफगानिस्तान 1998 से अबतक; इराक़ 2003 से अबतक... ...

इतिहास के पन्नों से

बंगाल के अकाल पर नयी पुस्तक : ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के बर्बर युद्ध-अपराध पर नयी रोशनी

जब दूसरे विश्वयुद्ध की बात होती है तो साम्राज्यवादियों की बहुत सारी बर्बरताएँ एकबारगी दिमाग़ में कौंध जाती हैं। नात्सी यन्त्रणा शिविरों में 60 लाख यहूदियों का मारा जाना, 50 लाख रोमाओं (जिप्सियों) का सफ़ाया, दो करोड़ सोवियत नागरिकों और 80 लाख चीनी नागरिकों का मारा जाना, हिरोशिमा-नागासाकी पर अमेरिकी परमाणु बम गिराये जाने से 2 लाख लोगों की तत्काल मौत और 1 लाख 30 हज़ार लोगों की बाद में कैंसर व अन्य विकिरण जनित रोगों से मौत... साम्राज्यवाद का यह ख़ूनी बैलेंसशीट भला कौन भूल सकता है?

उसी दौरान एक और भयावह घटना घटी जो नरसंहार के ही समकक्ष थी, लेकिन जिसकी चर्चा साम्राज्यवादी कुकृत्य के रूप में बहुत कम ही होती है। यह घटना थी, 1943 का कुख्यात बंगाल का अकाल। इस विषय पर अभी हाल ही में मधुश्री मुखर्जी की एक पुस्तक 'चर्चिल्स सीक्रेट वार : द ब्रिटिश एम्पायर एण्ड द रैवेजिंग ऑफ इण्डिया ड्यूरिंग वर्ल्ड वार-II' (बेसिक बुक्स, न्यूयार्क, 2010) प्रकाशित हुई है। मुखर्जी ने अपने शोधकार्य में इस सच्चाई को पुष्ट करने वाले ऐतिहासिक साक्ष्य दिये हैं कि एक वर्ष तक जारी यह भीषण अकाल प्राकृतिक आपदा नहीं था बल्कि "मानव-निर्मित" था। इस मानवीय महाविपदा के लिए पूरी तरह से तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल की साम्राज्यवादी नीतियाँ ज़िम्मेदार थीं। मुखर्जी का यह भी दावा है कि इस अकाल में मरने वालों की संख्या 30 लाख नहीं थी (जैसा कि अब तक माना जाता रहा है), बल्कि इससे काफ़ी ऊपर, 50 लाख के आसपास थी।

वैसे, ज़मीन्दारों के माध्यम से किसानों की बेशुमार लूट ने औपनिवेशिक शासन के दौरान कई बार ऐसी स्थितियाँ पैदा कीं जब लगान के बोझ से निचुड़े हुए किसान खेती कर पाने की ही स्थिति में नहीं होते थे। इसका नतीजा अलग-अलग क्षेत्रों में अकाल के रूप में सामने आता था। 1943 के बंगाल के अकाल की स्थिति पहले के अकालों से भिन्न थी। युद्ध के दक्षिण एशियाई मोर्चे पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जापानी फ़ासिस्ट लगातार पीछे धकेल रहे थे। 1942 में जापानियों ने सिंगापुर और फिर बर्मा पर कब्ज़ा कर लिया। तब बर्मा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों, और स्वयं ब्रिटेन के लिए सबसे बड़ा चावल निर्यातक उपनिवेश था। भारत की कुल चावल-खपत का 15-20 प्रतिशत उस समय बर्मा से आता था। बर्मा को जीतकर जापान भारत की दहलीज़ पर खड़ा था। जापानी हमला आसन्न था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने जवाबी तैयारी में "वंचन नीति" ("डिनायल पॉलिसी") का सहारा लिया जिसका अर्थ था हमलावरों को हर उपयोगी सामग्री पर कब्ज़े से वंचित कर देना। समूचे तटवर्ती बंगाल में हर तरह के वाहन (ट्रकें, कारें, नावें, बैलगाड़ियाँ, हज़ारों साइकिलें आदि) सेना ने ज़ब्त कर लिये। धान और चावल के भण्डार या तो नष्ट कर दिये गये या हटा दिये गये। सेना की बैरकों और हवाई पट्टियों के लिए 35,000 परिवारों को अपने घरों और आजीविका से हाथ धोना पड़ा। उस समय बंगाल के बड़े भूभाग में नाव ही आवागमन की मुख्य साधन थीं। नावों से ही किसान खेतों तक जाते थे, कुम्हार मिट्टी लेने जाते थे, लोग बाज़ार जाते थे। नावों के बिना खेती, कुटीर उद्योग सब ठप्प हो गये। जनजीवन अस्त-व्यस्त हो गया। यह भी स्मरणीय है कि कुछ ही महीनों पहले 1942 में आये भीषण तूफ़ान ने समुद्र तटवर्ती बंगाल में काफ़ी तबाही मचायी थी। खेत नमकीन पानी के दलदल बन गये थे। इस आपदा से उबरने में ब्रिटिश शासकों ने जनता की कोई मदद नहीं की थी, क्योंकि उस समय 'भारत छोड़ो आन्दोलन' उबाल पर था और संघर्षरत जनता का मनोबल तोड़ने के लिए ब्रिटिश शासक कुछ भी कर गुज़रने पर आमादा थे।

1943 के प्रारम्भ में जब अकाल का ख़तरा सिर पर था तो सम्भावित जन असन्तोष के विस्फोट से घबराकर वायसराय वावेल और भारत सचिव एमरी ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल, युद्ध मन्त्रालय और जहाज़रानी मन्त्रालय को कई पत्र लिखकर खाद्य संकट के ख़तरे के बारे में बताया। पर चर्चिल की सोच कुछ और थी। साम्राज्यवादी हितों पर उसकी पकड़ एक खूँख़ार बुलडॉग जैसी थी। वह स्वाधीनता संघर्ष में जनता के मनोबल को तोड़ देना चाहता था। भारतीय ज़मीन पर जापानियों का मुक़ाबला वह आधी-अधूरी ट्रेनिंग से लैस भारतीय सैनिकों को (पूरी ट्रेनिंग देने को वह ख़तरनाक मानता था) तोप का चारा बनाकर करना चाहता था, पर व्यापक जनता के सहयोग पर उसे कतई भरोसा नहीं था। उसे अमेरिका जैसे मित्रराष्ट्रों की मदद का भी भरोसा था और वह यह भी जानता था कि चीन और सोवियत संघ की जनता जापान सहित पूरी फ़ासिस्ट धुरी की कमर तोड़ रही है। अत: चर्चिल भारतीय जनता का सहयोग लेने के बजाय, उसके मनोबल को तोड़-कुचलकर ही दक्षिण एशियाई रंगमंच पर युद्ध जीतना चाह रहा था। युद्ध की परिस्थितियों का लाभ उठाकर भारतीय जनता अपनी आज़ादी के लिए दबाव बनाये, ऐसा वह कतई नहीं चाहता था। इसीलिए एमरी के एक पत्र का उत्तर देते हुए उसने लिखा था, "यदि खाने की इतनी ही कमी है तो गाँधी अब तक मरा क्यों नहीं" (गाँधी उस समय जेल में भूख हड़ताल पर थे)। सम्भावित खाद्यान्न संकट को भाँपकर कलकत्ता और बंगाल के अन्य शहरों में जमाख़ोरों ने अनाज जमा करके कालाबाज़ारी शुरू कर दी। संकट समय से पहले ही आ गया और भीषण रूप में आया। उस समय आस्ट्रेलिया में बड़ी तादाद में गेहूँ का भारी अतिरिक्त भण्डार मौजूद था जिसे यदि जहाज़ों में लादकर बंगाल पहुँचा दिया जाता तो जमाख़ोरी मुनाफ़े का सौदा नहीं रह जाता और भारी ग्रामीण आबादी को दो जून का खाना नसीब हो जाता, लेकिन चर्चिल ने ऐसा नहीं किया। यही नहीं, खाद्यान्न की मदद भेजने का अमेरिका और कनाडा का प्रस्ताव भी उसने ठुकरा दिया। उसका तर्क था कि अनाज लाने के लिए पर्याप्त संख्या में जहाज़ उपलब्ध नहीं थे। मुखर्जी ने प्रमाणित किया है कि तथ्य इसके उलट थे। जहाज़ इतने थे कि उनमें लदान के लिए पर्याप्त सामान नहीं थे। एक समय था जब जर्मन यू-2 पनडुब्बियों ने भारी संख्या में ब्रिटिश व्यापारी जहाजों को डुबोकर संकट पैदा कर दिया था, पर 1942 के अन्त तक स्थिति बदल चुकी थी। अमेरिका ने बड़े पैमाने पर ब्रिटेन को जहाज़ बनाकर दिये और उसके व्यापारिक जहाज़ी बेड़ों की जर्मन पनडुब्बियों से सागर में हिफ़ाज़त के लिए अपने युद्धक विमान तैनात किये। लेकिन चर्चिल वस्तुत: अनाज मँगवाना ही नहीं चाहता था। वह बस इतना चाहता था कि मध्यपूर्व से लेकर दक्षिण-पूर्व तक में लड़ने वाले भारतीय सैनिकों को और कारख़ानों में सेना के लिए उत्पादन करने वाली आबादी को युद्ध के दौरान भोजन और ज़रूरी सामान मिलते रहें। शेष आबादी, विशेषकर ग्रामीण आबादी को वह राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी का दण्ड देना चाहता था और खाद्यान्न को दमन के हथियार के रूप में इस्तेमाल कर रहा था।

चर्चिल की इन्हीं नीतियों ने बंगाल के अकाल को जन्म दिया। गाँव के गाँव वीरान हो गये। कलकत्ता की सड़कें लाशों से पटने लगीं। शोरबे और दलिया के लिए जगह-जगह सैकड़ों चलते-फिरते अस्थिपंजर लाइन लगाकर खड़े रहते थे और कई वहीं मर जाते थे। लाखों बेसहारा बच्चे सड़कों पर भटक रहे थे। भूखी माँओं ने अपने बच्चों को ज़िन्दा रखने के लिए शरीर बेचना शुरू किया। वेश्यालयों में भीड़ लग गयी। स्थिति ऐसी हो गयी कि कुलीन मध्य वर्ग के लोग भी इस हालात से निबटने के उपायों पर बात करने लगे। सड़कों पर सड़ती लाशों, अधमरे लोगों और दावतें उड़ाते कुत्तों को देख-देखकर उन्हें भी परेशानी होने लगी। हालाँकि उस समय भी कलकत्ता के ऊँचे दर्ज़े के होटलों में पाँच कोर्स वाले भव्य लंच-डिनर परोसे जा रहे थे।

मधुश्री मुखर्जी की पुस्तक इस मामले में महत्वपूर्ण है कि पहली बार इसमें उस ऐतिहासिक स्रोत-सामग्री (चर्चिल, एमरी, लार्ड वॉवेल, लार्ड लिनलिथगो आदि के पत्र, उस दौर के अन्य दस्तावेज़, संस्मरण आदि) का पहली बार इस्तेमाल किया गया है जो इस शताब्दी के पहले दशक के मध्य में पहली बार इतिहासकारों के शोध-अध्ययन के लिए ब्रिटिश अभिलेखागार द्वारा खुला किया गया था। यह पुस्तक एक बार फिर साम्राज्यवाद के बर्बर मानवद्रोही चरित्र को उजागर करने का काम करती है।

पूँजीवाद के रूप में मूर्त आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों के लिए अतिलाभ निचोड़ने के साथ ही जनता का बर्बर दमन-उत्पीड़न एक अनिवार्य ज़रूरत है। उपनिवेशवाद के दौर में और पिछली सदी के दौरान दो महायुद्धों और कई क्षेत्रीय युद्धों के दौरान जनता साम्राज्यवादी अपराधों की साक्षी बनी थी। ब्रिटेन ने जो बंगाल में किया, अमेरिकी साम्राज्यवाद आज सोमालिया और सूडान से लेकर अफ़गानिस्तान तक वही कर रहा है। यह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की ही नीतियाँ हैं कि 9 प्रतिशत विकास दर और कुछेक करोड़ अति समृद्ध लोगों के देश भारत में आज भी तक़रीबन 40 करोड़ आबादी कुपोषण की शिकार है और दूसरी ओर गोदामों में सालाना लाखों टन खाद्यान्न सड़कर मिट्टी हो रहा है।

बंगाल का अकाल भारत की जनता के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा छेड़ा गया एक परोक्ष युद्ध था। साम्राज्यवादी दुनियाभर के शोषित-उत्पीड़ित जनों के विरुद्ध प्रत्यक्ष युद्ध के अतिरिक्त ऐसे परोक्ष युद्ध आज भी चलाते रहते हैं। "मानव निर्मित" खाद्यान्न संकट और अकाल आज भी आम बात हैं। नयी बात यह है कि भारत जैसे देशों का पूँजीपति वर्ग भी अब इस परोक्ष युद्ध में साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार बन चुका है। नवउदारवादी नीतियों की आचार-संहिता के प्रति वह पूरी तरह से वफ़ादार बन चुका है।

-सुजय सेन

अमेरिका है दुनिया का सबसे बड़ा आतंकवादी!

(पेज 8 से आगे)

उसका पूरी दुनिया में कोई सानी नहीं है।

ज़ाहिर है कि केवल अमेरिका ही नहीं, सभी साम्राज्यवादी देश मानवता के दुश्मन और अपराधी हैं। साम्राज्यवाद का मतलब है दैत्याकार एकाधिकारी पूँजीपति घरानों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा पूरी दुनिया की अर्थ व्यवस्थाओं और राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा पूरी दुनिया की जनता के जीवन को नियन्त्रित करना। साम्राज्यवाद का मतलब उन परजीवी शोषकों से है जो दुनिया के अरबों आम लोगों को निचोड़कर पूँजी-संचय करते हैं। इसका मतलब उन परजीवी वित्तीय लुटेरों से है जो कम्प्यूटर के की-बोर्ड की कुछ कुंजियाँ दबाकर धन की विराट राशि पृथ्वी पर एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरित कर देते हैं, और लाखों लोगों को सड़कों पर धकेल देते हैं और लाखों के मुँह का निवाला छीन लेते हैं। साम्राज्यवाद का मतलब है युद्ध-उत्पीड़ितों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए युद्ध और प्रतिस्पर्द्धी साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्ध। इन देशों की सत्ताएँ कम्प्यूटर का एक बटन दबाकर मानवता को अकूत तबाही-बर्बादी के दहाने में झोंक देने की क्षमता रखती हैं। साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था है। मानवता इसे नष्ट करके ही अपने को सुरक्षित कर सकती है और अपनी प्रगति सुनिश्चित कर सकती है।

अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा साम्राज्यवादी है और विश्व पूँजीवाद का चौधरी है। अमेरिकी शासकवर्ग अमेरिकी जनवाद (लोकतन्त्र) को लगातार महिमामण्डित करता है, लेकिन वास्तव में वह ऐसा पूँजीवादी जनवाद है जो न केवल पूरी दुनिया के लिए बल्कि थोड़े से धनपतियों को छोड़कर बहुसंख्यक आम अमेरिकी आबादी के लिए भी एक अपराधी, दमनकारी ख़ूनी तन्त्र है।

नवउदारवाद के पिछले दो दशकों के दौरान भारत में भी ख़ुशहाल मध्यवर्ग की वह आबादी तेज़ी से फली-फूली है, जिसकी नज़रों में अमेरिका "स्वर्ग" है। देश की 121 करोड़ आबादी में से बमुश्क़िल तमाम 12-14 करोड़ लोगों की यह आबादी है, जिसके लिए तमाम शॉपिंग मॉल्स- मल्टीप्लेक्स -अपार्टमेण्ट्स- फॉर्महाउस- पाँच सितारा होटल, क्लब, आरामगाह, भाँति-भाँति की कारें, बाइकें, ए.सी, फ्रिज, हवाई यात्राएँ आदि सब कुछ हैं। 20 रूपये रोज़ के नीचे जीने वाली 77.5 फीसदी आबादी, कुपोषण के शिकार 40 करोड़ लोगों और 18 करोड़ बेघरों के नारकीय जीवन के सागर में ये उच्च मध्य वर्ग के लोग ऐश्वर्य और विलासिता के टापुओं पर रहते हैं। इनका ऊपरी हिस्सा तो यूरोप और अमेरिका के धनी लोगों के स्तर का जीवन बिताता है। यही वे लोग हैं जो अमेरिकी समाज के जनवाद के गुण गाते हैं और उसके चरित्र और ऐतिहासिक अपराधों की पर्दापोशी करते हैं। अपनी औलादों को बिज़नेस मैनेजमेण्ट का कोर्स कराकर और सॉफ़्टवेयर इंजीनियर आदि बनाकर अमेरिका भेजने के लिए खाते-पीते औसत मध्य वर्ग का आदमी भी सब कुछ कर गुजरने को तैयार होता है। जो ऊपर वाले हैं उनका तो "स्वर्ग" अमेरिका है ही। वे तो भारत में भी अमेरिका का ही जीवन जीते हैं।

अमेरिका के प्रशंसक बुद्धिजीवी इस ऐतिहासिक अपराधी के बौद्धिक एजेण्ट हैं। ऐसे लोगों का अपराध भी अक्षम्य है।

('रिवोल्युशनरी वर्कर' में प्रकाशित टिप्पणी पर आधारित)

चीन : माओ की भविष्यवाणी सही साबित हुई

सन् 1976 में माओ-त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में मज़दूर वर्ग से राज्यसत्ता छीनकर पूँजीपति वर्ग सत्ता पर काबिज़ हो गया था। लेकिन चीनी पूँजीपति वर्ग ने सत्ता हासिल करने के बाद भी समाजवाद का लबादा नहीं उतारा। सन् 1976 से चीनी कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूर वर्ग की पार्टी नहीं रह गयी। लेकिन दुनिया के अधिकतर लोग आज भी इस भ्रम का शिकार हैं कि चीन एक साम्यवादी देश है और वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में है। पूँजीवादी बुद्धिजीवी, प्रिन्ट और इलेक्ट्रिानिक मीडिया इस भ्रम का जोरशोर से प्रचार करते हैं। चीन की बुरी परिस्थितियों का बयान वे यह कहते हुए करते हैं कि देखो साम्यवादी व्यवस्था ने चीन का क्या हाल कर रखा है। चीन के तथाकथित विकास के बारे में बात करते हुए वे कहते हैं कि चीनी कम्युनिस्ट अब साम्यवाद का रास्ता त्यागकर पूँजीवाद अपना रहे हैं जिससे कि विकास हो रहा है। पिछले दिनों चीन की सत्तारूढ़ नकली कम्युनिस्ट पार्टी ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के 90 वर्ष पूरे होने पर जश्न मनाये। इन जश्नों की ख़बरों को पूँजीवादी अख़बारों ने ख़ास जगह दी। पूँजीवादी मीडिया ने पार्टी के इस बयान को ख़ास तौर पर उछाला कि माओ-त्से-तुङ की आर्थिक नीतियों ने चीन का विकास नहीं होने दिया था। इन ख़बरों में कहा गया कि माओवादी नीतियाँ त्यागने के बाद पार्टी ने चीनी अर्थव्यवस्था को सही ट्रैक पर लाते हुए विकास किया है। आइये देखें कि चीन में इतिहास ने किसे सही साबित किया – पूँजीवाद को या माओवाद को?

माओ-त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में प्रतिक्रान्तिकारी तख्तापलट होने के बाद नये पूँजीवादी शासकों ने तथाकथित आर्थिक सुधारों को चीनी मेहनतकश जनता पर थोपना शुरू कर दिया। देहातों में सामूहिक फार्मों को तोड़ दिया गया और कृषि का निजीकरण कर दिया गया। नतीजे के तौर पर करोड़ों ग्रामीण मज़दूर अतिरिक्त मज़दूर बन गए। चीन के देशी-विदेशी उद्योगों के लिए इस तरह बेहद सस्ते श्रम का इन्तज़ाम हुआ। 1990 के बाद सरकारी संस्थानों को तेज़ी से निजी हाथों में सौंपा जाने लगा। सभी छोटे और मध्यम सरकारी उद्योगों को और कुछ बड़े सरकारी उद्योगों को निजी हाथों में कौड़ियों के मोल बेच दिया गया। सरकारी अफसर, पूर्व सरकारी उद्योगों के मैनेजर, सरकार में सम्बन्ध रखने वाले निजी पूँजीपति और मल्टीनेशनल कारपोरेशनों को इसका भरपूर फ़ायदा मिला। चीन के नये पूँजीपति वर्ग ने इस तरह बड़े स्तर पर शुरुआती पूँजी जुटायी। दूसरी तरफ सरकारी और सामूहिक उद्योगों के लाखों मज़दूरों की छँटनी कर दी गयी और वे बेरोज़गार हो गये।

संशोधनवादी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने 2002 में सोलहवीं पार्टी कांग्रेस में पार्टी संविधान में भी बदलाव कर डाला। पहले पार्टी संविधान में लिखा गया था कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूर वर्ग का हिरावल दस्ता है। लेकिन अब इसे बदल दिया गया। अब कहा गया कि अब पार्टी चीन की व्यापक जनता और सबसे अग्रणी उत्पादक शक्तियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। संशोधनवादी चीनी पार्टी ने चीन के पूँजीपति वर्ग को सबसे अग्रणी उत्पादक शक्तियों के तौर पर पेश किया और इस तरह पार्टी में पूँजीपति को भरती करने का रास्ता खोल दिया गया।

चीन में 1980 से, लगभग पन्द्रह करोड़ लोग रोज़गार की तलाश में देहाती क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर प्रवास कर चुके हैं। एक्सपोर्ट के लिए होने वाला उत्पादन इन्हीं प्रवासी मज़दूरों के श्रम पर टिका हुआ है। चीन के ग्वांगजू, शेनज़ेन और हांगकांग क्षेत्रों में किये गये एक सर्वेक्षण के मुताबिक दो-तिहाई मज़दूर रोजाना आठ घण्टे से अधिक काम करते हैं और उन्हें साप्ताहिक छुट्टी भी नहीं मिलती। बहुत से मज़दूरों को सोलह घण्टे तक भी काम करना पड़ता है। पूँजीवादी मैनेजर मज़दूरों को अनुशासन में रखने के लिए तरह-तरह की नाजायज़ सज़ाएँ देते हैं। चीन के लगभग बीस करोड़ मज़दूर भयानक

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के तहत जब पूँजीवादी पथगामियों के ख़िलाफ़ जनान्दोलन जारी था उस समय माओ-त्से-तुङ ने कहा था कि अगर चीन की राज्यसत्ता पर पूँजीवादी पथगामी काबिज़ हो भी जाते हैं तो चीनी जनता उन्हें एक दिन भी चैन की नींद नहीं सोने देगी। कामरेड माओ की यह भविष्यवाणी पूरी तरह सच साबित हुई। चीनी मेहनतकश जनता ने पूँजीवादी पथगामियों के राज्यसत्ता हथियाने के बाद पूँजीवादी सुधारों का जवाब ज़बर्दस्त आन्दोलनों से दिया है।

परिस्थितियों में काम करते हैं। हर वर्ष सात लाख मज़दूर काम के दौरान गम्भीर हादसों का शिकार होते हैं। इन हादसों में लगभग एक लाख मज़दूरों को अपनी जान गँवानी पड़ती है।

चीन में आज गैर-खेतिहर श्रम शक्ति कुल श्रम शक्ति का 60 प्रतिशत हो चुकी है जो कि सन् 1980 में 31 प्रतिशत थी। इस गैर-खेतिहर श्रम शक्ति का 80 प्रतिशत श्रम शक्ति सर्वहारा है यानि ऐसे मज़दूर जो अपनी श्रम शक्ति पूँजीपतियों को बेचकर ही गुज़ारा करते हैं। सन् 1990 से लेकर सन् 2005 तक चीन के मज़दूरों की कुल आमदनी का घरेलू सकल उत्पाद में हिस्सा 50 प्रतिशत से घट कर 37 प्रतिशत रह गया है। अमीरी-ग़रीबी की भयानक रूप से चौड़ी होती जा रही खाई को यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है। सन् 1976 के पहले चीन सबसे अधिक समानता वाले देशों में गिना जाता था। आज वही चीन सबसे अधिक असमानता वाले देशों में गिना जाता है। वर्ल्ड वेल्थ रिपोर्ट, 2006 के अनुसार चीन के 0.4 प्रतिशत सबसे अधिक अमीर परिवार देश के कुल धन में से 70 प्रतिशत के मालिक हैं। 2006 में लगभग 3200 व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति 10 करोड़ युआन (लगभग 1.5 करोड़ अमेरिकी डालर) थी। इनमें से 90 प्रतिशत (2900) वरिष्ठ सरकारी या पार्टी अधिकारियों की सन्तानें थीं। इन लोगों की सम्पत्ति का कुल जोड़ (लगभग 20 खरब युआन) चीन के 2006 के कुल घरेलू उत्पाद के लगभग बराबर था। चीन की जनता इस बात को अच्छी तरह समझती है कि चीनी पूँजीपति वर्ग के पास जमा हुई यह सम्पत्ति जनता की ही है। निजीकरण के दौरान 30 खरब युआन की राजकीय व सामूहिक सम्पत्ति सरकार में मिलीभगत के सहारे पूँजीपतियों ने हथिया ली। चीन के संशोधनवादी भ्रष्टाचार में पूरी तरह डूबे हुए हैं। चीन का मौजूदा प्रधानमंत्री वेन जिआबाओ दुनिया के सबसे अमीर प्रधानमंत्रियों में से एक है। उसका बेटा चीन की सबसे बड़ी निजी इक्विटी फर्म का मालिक है। उसकी पत्नी चीन के आभूषण उद्योग की इंचार्ज है। वेन परिवार के पास एक अनुमान के मुताबिक लगभग 30 खरब युआन (लगभग 4.3 अरब अमेरिकी डालर) की सम्पत्ति है। पार्टी के महासचिव और पूर्व राष्ट्रपति जिआङ जेमिन के पास अंदाजन 7 अरब युआन और पूर्व प्रधानमंत्री ज़ू रोंङजी के पास अंदाजन 5 अरब युआन की सम्पत्ति है। अब तो चीनी पूँजीवादी बुद्धिजीवी भी मानने लगे हैं कि चीन में भ्रष्टाचार नियंत्रण से बाहर जा चुका है।

समाजवादी चीन में अमीर-ग़रीब के बीच की खाई लगातार कम होती चली गयी थी। मानसिक व शारीरिक श्रम, गाँव और शहर, कृषि व उद्योग के बीच की गैरबराबरी लगातार घटती जा रही थी। लेकिन आज पूँजीवादी चीन में ये असमानताएँ लगातार तेज़ गति से बढ़ती जा रही हैं। साथ ही समाजवादी चीन में प्रदूषण पर बेमिसाल नियंत्रण कायम करते हुए इसे लगातार घटाया जाता रहा। लेकिन मुनाफ़ा कमाने की हवस में अन्धा चीनी पूँजीपति वर्ग वायुमण्डल को अभूतपूर्व ढंग से प्रदूषित कर रहा है।

समाजवादी चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के तहत जब पूँजीवादी पथगामियों के ख़िलाफ़ जनान्दोलन जारी था उस समय माओ-त्से-तुङ ने कहा था कि अगर चीन की राज्यसत्ता पर पूँजीवादी पथगामी काबिज़ हो भी जाते हैं तो चीनी जनता उन्हें एक दिन भी चैन की नींद नहीं सोने देगी। कामरेड माओ की यह भविष्यवाणी पूरी तरह सच साबित हुई। चीनी मेहनतकश जनता ने पूँजीवादी पथगामियों के राज्यसत्ता हथियाने के बाद पूँजीवादी सुधारों का जवाब ज़बर्दस्त आन्दोलनों से दिया। साथ ही जैसे-जैसे गैर-खेतिहर श्रम शक्ति की तादाद बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे चीन में मज़दूर आन्दोलन भी बड़ा आकार लेता जा रहा है जो चीनी पूँजीपति वर्ग और उनकी सेवक संशोधनवादी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की मुसीबतों में कई गुना इज़ाफ़ा कर रहा है। पिछले वर्ष 2010 की गर्मियों में हुई दर्जनों हड़तालों ने चीन के ऑटो, इलेट्रॉनिक, और टेक्सटाइल उद्योग को हिलाकर रख दिया था। पूँजीपतियों को मज़दूरों का वेतन बढ़ाने पर मजबूर होना पड़ा था। पूँजीवादी समाज-वैज्ञानिक डर ज़ाहिर कर रहे हैं कि चीन हड़तालों के एक नये दौर में प्रवेश करने जा रहा है जिससे श्रम शक्ति महँगी हो जायेगी और सामाजिक अस्थिरता पैदा हो जायेगी।

पूर्व राजकीय मज़दूरों ने निजीकरण और छँटनियों के ख़िलाफ़ बड़े जनसंघर्ष लड़े हैं। इन संघर्षों का असर न सिर्फ इन छँटनियों का शिकार हुए मज़दूरों पर पड़ा बल्कि उन पर भी इन संघर्षों का व्यापक असर हुआ जो अभी भी इन राजकीय उद्योगों में काम करते हैं। इन संघर्षों ने चीनी सर्वहारा के इस हिस्से – राजकीय मज़दूरों – में वर्गीय और एक हद तक समाजवादी चेतना पैदा करने का काम किया है। इस ऐतिहासिक अनुभव के कारण चीनी राजकीय मज़दूरों के संघर्ष अकसर सिर्फ तात्कालिक आर्थिक माँगों तक सीमित नहीं रहते। बहुत से मज़दूर कार्यकर्ता इस बात को समझते हैं कि उनकी मौजूदा हालत पूँजीपतियों से आर्थिक संघर्ष लड़ने से ही नहीं बदल जायेगी क्यों मूल रूप से उनकी यह हालत वर्ग युद्ध में मज़दूर वर्ग की ऐतिहासिक हार और पूँजीपति वर्ग की अस्थायी जीत की वजह से हुई है। राजकीय उद्योगों में काम करने वाले अधिकतर मज़दूर यहाँ समाजवादी दौर में पहले काम कर चुके मज़दूरों की संतानें हैं या फिर उन्होंने पुराने राजकीय मज़दूरों के साथ काम किया है, या फिर वे उन्हीं के आस-पास रहते हैं। इस तरह मौजूदा समय में राजकीय उद्योगों में काम करने वाले मज़दूर पुराने मज़दूरों के संघर्षों और उनके राजनीतिक अनुभव से प्रभावित हैं।

सन् 2005 में जिलिन प्रांत में टोंघुआ स्टील कारखाने का निजीकरण कर दिया गया। 10 अरब युआन की राजकीय सम्पत्ति का कीमत सिर्फ 2 अरब यूआन लगाई गई। एक ताकतवर निजी कम्पनी जिआनलोंग, जिसके बीजिंग में उच्च अधिकारियों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे, ने असल में सिर्फ 80 करोड़ युआन ही अदा किये और कम्पनी का स्वामित्व हासिल कर लिया। मज़दूरों के वेतन दो-तिहाई घटा दिये गये। कारखाने में हादसे बहुत बढ़ गये। मज़दूरों पर मनमर्ज़ी के जुर्माने और सजाएँ थोपी जाने लगीं। 2007 में इस कारखाने के मज़दूरों ने प्रदर्शन शुरू किये। माओ के समय के वू नाम के एक मज़दूर, मज़दूरों के नेता बनकर उभरे। उन्होंने मज़दूरों को स्पष्ट कहा कि असल मुद्दा निजीकरण की राजनीतिक नीति से जुड़ा है। जुलाई 2009 में मज़दूरों ने उग्र हड़ताल कर दी। इसके बाद जिलिन प्रान्त में निजीकरण की योजना को ठप्प करना पड़ा। टोंघूआ स्टील मज़दूरों की जीत ने चीन के अन्य भागों के मज़दूरों को प्रेरित किया। बहुत से अन्य स्टील कारखानों के मज़दूरों ने भी विरोध की आवाज़ उठाई और स्थानीय सरकारों को निजीकरण की योजनाएँ रद्द करने के लिए मजबूर किया। चीन के ऊर्जा और भारी उद्योग क्षेत्र का बड़ा हिस्सा अभी भी राजकीय है। इस नज़रिए से भी चीन के राजकीय मज़दूर, मज़दूर वर्ग का वह हिस्सा हैं जो चीनी पूँजीपति वर्ग को बड़ी आर्थिक और राजनीतिक चुनौती दे सकते हैं।

1980 से पहले प्रोफेशनल और तकनीकी मज़दूर पूँजीवादी सुधारों और खुलेपन की नीतियों का ज़बरदस्त समर्थक था। लेकिन अब पूँजीवादी समाज में बढ़ती जा रही गैरबराबरी ने उन्हें भी ज़मीन पर ला दिया है। पूँजीवादी व्यवस्था ने मध्यम वर्गीय सपनों को तार-तार कर दिया है। सन् 2010 में ग्रेजुएट होने वाले कुल कालेज विद्यार्थियों में से 25 प्रतिशत को कोई रोज़गार प्राप्त नहीं हुआ। जिन्हें रोज़गार मिलता भी है उन्हें भी अकसर लगभग उसी वेतन पर काम करने पर मजबूर होना पड़ता है जिस पर कि प्रवासी अकुशल मज़दूरों को काम करना पड़ता है। हर वर्ष ग्रेजुएशन करने वाले कुल 60 लाख कालेज विद्यार्थियों में से 10 लाख ऐसे होते हैं जिन्हें शहरों के बाहरी हिस्सों में झुग्गी-झोपड़ी जैसी परिस्थितियों में रहना पड़ता है। आवास, स्वास्थ्य देखभाल और शिक्षा की तेज़ गति से बढ़ती जा रही कीमतें चीन के मध्यम वर्ग की आर्थिक और सामाजिक हालत और भी बिगाड़ती जा रही हैं। मध्यम वर्गीय जीवन जीने के उनके सपने टूटते जा रहे हैं। जैसे-जैसे इस वर्ग के लोग सर्वहारा जीवन परिस्थितियों का अनुभव कर रहे हैं वैसे-वैसे इस वर्ग के अधिक से अधिक नौजवान राजनीतिक तौर पर रैडिकल होते जा रहे हैं। पिछले दशक के दौरान चीन में वामपंथी राजनीतिक धारा फिर से आगे बढ़ी है। तीन वामपंथी वेबसाइटें, वू यू जी जिआंग, द माओ-त्से-तुङ लीग और द चाईना वर्कर्ज़ नेटवर्क, तेज़ी से लोकप्रिय हुई हैं और राष्ट्रस्तरीय प्रभाव हासिल किया है।

9 सितम्बर और 26 दिसम्बर 2010 के दिन, सैकड़ों शहरों के मज़दूरों तथा लगभग 80 विश्वविद्यालयों और कालेजों के विद्यार्थियों ने कामरेड माओ की याद में स्वय:स्फूर्त सभाएँ आयोजित कीं। ये सभाएँ आमतौर पर स्थानीय सरकारों द्वारा विरोध और तंग किये जाने के बावजूद आयोजित की गयीं। चीनी नया वर्ष (9 फरवरी) लगभग सात लाख मज़दूरों ने कामरेड माओ के जन्म स्थान पर पहुँचकर उन्हें याद करते हुए मनाया। माओ त्से-तुङ के प्रति चीनी जनता का यह झुकाव यह साबित करता है कि वह माओ की दिखायी राह पर आगे बढ़कर समाजवादी चीन फिर से क़ायम करना चाहती है।

– लखविन्दर

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? *(ग्यारहवीं किस्त)*

आलोक रंजन

प्रस्तावना के उल्लिखित "लोकतंत्रात्मक गणराज्य" के ढोल की पोल

अब हम प्रस्तावना में उल्लिखित "लोकतंत्रात्मक गणराज्य" या ''जनवादी गणराज्य (डेमोक्रेटिव रिपब्लिक) शब्दावली की असलियत की पड़ताल करें।

कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य और विख्यात विधिवेत्ता शरत चन्द्र बोस ने 'इण्डियन लॉ रिव्यू' के जनवारी 1950 के अंक में (संविधान पारित होने के कुछ सप्ताह पहले ही) यह टिप्पणी की थी कि 'संविधान की प्रस्तावना ही धोखाधड़ी के साथ तैयार की गयी है।

पिछले साठ वर्षों के बीच "लोकतंत्रात्मक गणराज्य" या "जनवादी गणराज्य" का जो अमली रूप सामने आया है उसने जनता के साथ हुई धोखाधड़ी को एकदम नंगा कर दिया है। इस बात का प्राय: बहुत अधिक डंका पीटा जाता है कि भारत का बहुदलीय संसदीय जनवाद साठ वर्षों से सुचारु रूप से चल रहा है। बेशक शासक वर्गों की इस हुनरमंदी को मानना पड़ेगा कि साठ वर्षों से यह धोखाधड़ी जारी है! मगर सच यह भी है कि असलियत जनता से छुपी नहीं रह गयी है। यदि जनवाद का यह वीभत्स प्रहसन जारी है तो इसके पीछे बुनियादी कारण है राज्यसत्ता का दमन तंत्र, शासक वर्गों द्वारा चतुराई पूर्वक अपने सामाजिक आधारों का विस्तार तथा जनता के जाति-धर्म के आधारों पर बाँटने के कुचक्रों की सफलता। लेकिन इससे भी बड़ा बुनियादी कारण है, इस व्यवस्था के किसी व्यावहारिक क्रान्तिकारी विकल्प का संगठित न हो पाना।

बहुदलीय संसदीय जनवाद का मतलब सिर्फ इतना ही रहा है कि हर पाँच वर्षों बाद जनता ठप्पा मारकर सिर्फ यह चुनाव करे कि शासक वर्ग की कौन सी पार्टी अगले पाँच वर्षों तक उसपर शासन करे। सरकारें चाहे जिस पार्टी की हों, वे शासन वर्गों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती रही हैं। जो सरकार योग्यतापूर्वक इस काम को नहीं कर पाती, उस सरकार को गिरते देर नहीं लगती। चुनाव पूँजीपति घरानों की थैलियों के बिना कोई लड़ ही नहीं सकता। संसद की भूमिका केवल बहसबाज़ी के उड्डे की होती है। नीतियों को लागू करने का असली काम नौकरशाही करती है। मंत्रिमण्डल बस पूँजीपतियों के इशारे पर नीतियाँ बनाता है। जनता के हर सम्भावित प्रतिरोध को कुचलने के लिए पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों और सेना का एक दैत्याकार तंत्र है। मदनकारी राज्य मशीनरी का सहारा देने के लिए गैरजनवादी, निरंकुश सामाजिक संस्थाओं का तानाबाना है और जनवाद के विभ्रम को तरह-तरह से बनाये रखने के लिए तथा शासक वर्ग की नीतियों को लोकलुभावन मुखौटा पहनाने के लिए बुर्जुआ मीडिया का सर्वव्यापी पहुँच वाली एक शक्तिशाली संरचना है।

26 जनवरी 1950 को जब संविधान पारित हुआ तो आम लोगों के एक बड़े हिस्से को भारतीय जनवादी गणराज्य के बारे में, थोड़ी बहुत शंकाओं के बावजूद काफ़ी उम्मीदें थीं। लोगों को इन्तजार था कि दो सौ वर्षों की गुलामी से निचुड़ा हुआ देश जब थोड़ा सम्हलकर अपनी उत्पादक शक्तियों का विकास करेगा तो प्रगति का फल आम लोगों को भी मिलेगा। एक से दो दशक का समय बीतते-बीतते भारतीय जनवादी गणराज्य का असली चेहरा सामने आ चुका था। बाद में दशकों का कालखण्ड उसके ज्यादा से ज्यादा वीभत्स और ज्यादा से ज्यादा विकृत होते जाने का समय था।

आइये, इस जनवादी गणराज्य की असलियत की सिलसिलेवार पड़ताल की जाये। इसे बनाने वाली संविधान सभा के चुनाव की गैरजनवादी प्रक्रिया की पहले चर्चा की जा चुकी है। इसकी भी चर्चा की जा चुकी है कि इसकी 395 में से 250 धाराएँ 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' से ज्यों की त्यों ले ली गयीं थी। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों की चर्चा आगे जब हम विस्तार से करंगे तो देखेंगे कि किसतरह संविधान में ऊँचे आदर्शों और लुभावने वायदों (सबको आजीविका, समान काम के लिए समान वेतन, समान सामाजिक अवसर आदि) लंतरानी खूब हाँकी है, पर इन्हें लागू करने की कोई क़ानूनी बाध्यता सरकार के लिए नहीं हैं। अब इतने वर्षों बाद राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों को भारतीय जीवन की विद्रूप सच्चाइयों के बरक्स रखकर कोई पढ़े तो वे एक भोड़े-भद्दे मज़ाक से अधिक कुछ भी नहीं लगते।

जिस देश में जनवादी गणराज्य का संविधान लागू होने के छ: दशकों से भी अधिक समय बाद 80 करोड़ लोग अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी न कर पाते हैं, आधी से अधिक आबादी कुपोषण ग्रस्त हो, 40 करोड़ लोग रात को भूखे सोते हो, 9 हजार बच्चे प्रतिदिन भूख और कुपोषण से मरते हो, 18 करोड़ लोग बेघर हो और 18 करोड़ झुग्गी-झोंपड़ियों में रहते हों, उस देश में जनवाद के उच्चादर्श खोखले झुनझने से अधिक कुछ भी नहीं हैं। जो लोग दिन रात हाड़ गलाकर भी जीने की बुनियादी ज़रूरतें तक पूरी नहीं कर पाते, उनके लिए जनवादी अधिकारों का व्यवहारत: कोई मतलब नहीं रह जाता। राष्ट्रीय विकास के लम्बे-चौड़े दावों के बीच आम जनता की ज़िन्दगी की बेरहम हक़ीकत यह है कि भारत में 63 फीसदी बच्चे प्राय: भूखे पेट सोते हैं, 60 फीसदी बच्चे कुपोषणग्रस्त हैं, 60 फीसदी बच्चे (और 74 फीसदी नवजात) रक्ताल्पता के शिकार हैं, 50 फीसदी बच्चे का बज़न न्यूनतम सीमा से कम है, 23 फीसदी बच्चे जन्म से कमज़ोर होते हैं। देश की 75 फीसदी माँओं को पोषणयुक्त भोजन नहीं मिलता, प्रसव के दौरान 1 लाख में से 450 स्त्रियों की मौत हो जाती है और गर्भवती एवं सद्य:प्रसूता स्त्रियों के मामने में 99 फीसदी मौतें गरीबी, भूख और बीमारी के चलते होती हैं। यह जनवादी गणराज्य यदि छ: दशकों से अधिक समय बाद भी 40 फीसदी आबादी को न्यूनतम सुविधायुक्त आवास, 80 फीसदी परिवारों को सुरक्षित पीने का पानी और 42 प्रतिशत परिवारों को बिजली नहीं मुहैया करा सका है, तो फिर जनता के लिए जनवाद का कोई विशेष मतलब नहीं रह जाता।

जिस समाज में असमानता की खाई विकास की तेज़ रफ़्तार के साथ लगातार बढ़ती चली गयी हो, वहाँ जनवाद के आदर्श खोखले झुनझुने की आवाज़ जैसे लगने लगते हैं। आज़ादी के 64 वर्षों बाद की सच्चाई यह है कि देश ऊपर की 3 फीसदी और नीचे की 40 फीसदी आबादी की आमदनी के बीच का अन्तर साठ गुना हो चुका है। ऊपर की 10 फीसदी आबादी के पास कुल परिसम्पत्ति का 85 फीसदी इकट्ठा हो गया है। जबकि नीचे की 60 फीसदी आबादी के पास महज़ दो फीसदी है। आबादी का 0.01 फीसदी ऐसा है जिसकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक है। कुल 1 अरब 21 करोड़ में से बमुश्किल तमाम 15 करोड़ आबादी ही उन धनी और खुशहाल लोगों की है जिनके लिए तमाम अत्याधुनिक सुविधाओं, सेवाओं और मँहगी एवं विलासितापूर्ण उपभोक्ता सामग्रियाँ का विशाल बाज़ार है। इनमें से भी 10 लाख लोग ऐसे हैं जिनकी मासिक आय 50 लाख रुपये से अधिक हैं। दुनिया में सबसे तेज़ी से अरबपतियों और करोड़पतियों की संख्या भारत में बढ़ रही है। अरबपतियों की कुछ दौलत को लिहाज से अमेरिका के बाद दूसरा स्थान भारत का है, लेकिन बेघरों, कुपोषितों, भूखों अनपढ़ों, बेरोज़गारों और दवा-इलाज की बुनियादी सुविधाओं तक से वंचित लोगों की तादात के लिहाज से भी वह दुनिया में पहले नम्बर पर है। चीन के बाद भारत अर्थव्यवस्था की विकास दर के हिसाब से दूसरे स्थान पर है, पर मानव विकास सूचकांक की दृष्टि से भी, यह दुनिया के सबसे ग़रीब देशों के साथ सबसे निचले पायदान पर खड़ा है।

आधी सदी से भी अधिक समय के दौरान इस जनवाद ने जनता को क्या दिया है, इसकी तस्वीर के कुछ छूटे हुए पहलुओं की हम आगे भी चर्चा करेंगे। इसके पहले ज़रा गणराज्य के उसूलों के अमली रूप पर भी एक सरसरी निगाह डाल ली जाये। अपने आदर्श रूप में जनवादी गणराज्य का अर्थ है, जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की नीति निर्माजी और कार्यकारी सत्ता के माध्यम से जनता का सम्प्रभु होना, उस सत्ता का जनसामान्य के हित में काम करना और जन सामान्य के प्रति जवाबदेह देना। नजवादी गणराज्य के इस आदर्श रूप को तो दुनिया के किसी भी बुर्जुआ वर्ग ने लागू नहीं किया, लेकिन भारत में इसका अमली रूप अत्यन्त घृणित पाखण्डपूर्ण हैं पहली बात तों यह कि विधायिका और कार्यपालिका का कार्यविभाजन करके जनप्रतिनिधियों की जनता के प्रति जवाबदेही को हर बुर्जुआ जनवाद की तरह भारत में भी औपचारिक बना दिया गया है। बहुदलीय प्रणाली में बहुमत पाने वाला दल सरकार बनाकर बुर्जुआ वर्ग की मैनेजिंग कमेटी की भूमिका निभाता है और रोज़मर्रे का शासन-प्रशासन दिल्ली से लेकर ब्लॉक स्तर तक नौकरशाही सम्हालती है जिसकी जनता के प्रति कोई जवाबदेही नहीं होती। तथाकथित जनप्रतिनिधिगण संसद में सोने और हंगामा करने तथा सिफ़ारिश दलाली एवं कमीशनखोरी करके सम्पत्ति बनाने का काम करते हैं। बुर्जुआ जनवादी गणराज्य का तीसरा खम्भा न्यायपालिका है, जिसकी चर्चा आगे करेंगे। उसके पहले यह देख लें कि चुनाव की प्रक्रिया क्या वास्तव में जनप्रतिनिधित्व की वास्तविक जनवादी प्रणाली है?

संसद और विधानसभाओं का क्षेत्र जितना बड़ा होता है और चुनाव-प्रचार की प्रक्रिया जितनी खर्चीली होती है, उसमें एक सामान्य न्यागरिक थैलीशाहों के अरबों खरबों रुपये की मदद से चलने वाली किसी पार्टी का उम्मीदवार बने बिना प्रभावी ढंग से चुनाव नहीं लड़ सका। चुनवा लड़ने का शौक पूरा करके ज़मानत ज़ब्त कराने वाले किसी उम्मीदवार को भी लाखों से लेकर करोड़ों तक खर्च करने पड़ते हैं। एक आकलन के मुताबिक, चुनाव में भागीदारी का प्रति उम्मीदवार औसत खर्च 8 करोड़ रूपये और बड़ी पार्टियों का प्रति उम्मीदवार औसत खर्च 30 करोड़ रुपये बैठता है (अमित भादुड़ी, ई.पी. डब्ल्यू, 20-26 नवम्बर 2010) वर्ष 2004 के लोकसभा चुनावों में सरकारी तंत्र का कुल घोषित प्रत्यक्ष खर्च 13 अरब रुपये था। यदि अबतक के सभी लोकसभा और विधान सभा चुनावों के सिर्फ सरकारी खर्चे को ही जोड़ दिया जाये तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बहुतदलीय संसदीय जनवादी प्रणाली देश की बहुसंख्यक आम शोषित-वंचित आबादी पर कितना कमरतोड़ बोझ डालती है।

और बात सिर्फ चुनाव की ही नहीं है। ''दुनिया का सबसे बड़ा जनवादी गणराज्य'' आम लोगों पर कितना भारी पड़ता है, इसका अनुमान महज कुछ तथ्यों और आँकड़ों से लगाया जा सकता है। जिस देश में तक़रीबन 84.5 करोड़ आबादी 20 रुपये रोज़ाना से कम पर और उसमें से 27 करोड़ आबादी 11 रुपये रोज़ाना पर गुजर करती हो, उस देश में सांसद की मासिक तनख्वाह 50,000 रुपये है। उसे 45,000 रुपये मासिक निर्वाचन क्षेत्र भत्ता मिलता है। संसद सत्रों के दौरान हर सांसद को 2000 रुपये रोज़ टी.ए. डी.ए. मिलता है। आवास, बिजली, फोन, हवाई यात्रा, प्रथम श्रेणी रेल यात्रा, सब्सिडाइज़्ड संसद कैण्टीन आदि सुविधाओं की कोई गिनती नहीं है। कुल 534 संसद सदस्यों पर सालाना 3 अरब 20 करोड़ 40 लाख रुपये खर्च होते हैं। हर पूर्व सांसद को 20,000 रुपये मासिक पेंशन मिलती है। 5 करोड़ रुपये सालाना की सांसद निधि अपने निर्वाचन क्षेत्रों में विकास कार्यों के लिए हर सांसद को मिलती है जो वस्तुत: 70 प्रतिशत "भ्रष्टाचार निधि" होती है जिसमें स्थानीय नौकरशाही का भी हिस्सा होता है। संसद के सत्रों पर प्रतिदिन 3.6 करोड़ रुपये ख़र्च होता हैं। आधी जनता भरपेट भोजन नहीं कर पाती, पर उनके प्रतिनिधि जो सांसद हैं, उनमें से 70 फीसदी करोड़पति है। कैबिनेट मंत्रियों को आवास-यात्रा आदि सुविधाओं और भत्तों के अतिरिक्त 65,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। 2006-09 के बीच केन्द्रीय मंत्रियों ने देश के भीतर बाहर अपनी यात्राओं पर 300 करोड़ रुपये खर्च किये।

यह जनवाद कितना मँहगा और परजीवी है और यह जनता पर कितना भारी है, इसे उजागर करने वाले कुछ और तथ्यों पर निगाह डालें। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल और सम्बद्ध विभागों का कुछ खर्च 2008-09 में 1 खरब 75 अरब डालर यानी लगभग 87 खरब 50 अरब रुपये के आसपास था। योजना और वार्षिक बजट के अतिरिक्त गैरयोजनागत खर्च 2008-09 में 5 करोड़ डालर यानी करीब 2 अरब 50 करोड़ रुपये था। सभी राज्यों के मंत्रियों, विधायकों और नौकरशाही का सालाना खर्च यदि एक साथ जोड़ दें तो यह उपरोक्त राशि के दस गुने से भी अधिक हो जायेगा। केन्द्र और राज्य के मंत्रियों, जनप्रतिनिधियों और नौकरशाहों की सुरक्षा व्यवस्था पर ही सालाना खरबों रुपये ख़र्च होते हैं। करोड़ों बेघरों के इस देश का राष्ट्रपति 340 कमरों के भव्य महल-राष्ट्रपति भवन में रहता है जो दुनिया के सभी राष्ट्राध्यक्षों के आवासों (व्हाइट हाउस और बकिंघम पैलेस से भी) बड़ा है। 2007 में इसके रखरखाव की लागत सालाना 100 करोड़ रूपये आँकी गयी थी। 2009-10 में सिर्फ इसके बिजली का बिल ही 6.67 करोड़ रुपये था। इस समय राष्ट्रपति को 1 लाख रुपये, उपराष्ट्रपति को 80,000 रुपये और राज्यपालो को 75,000 रुपये मासिक वेतन अन्य अनगिनत सुविधाओं और भत्तों के अतिरिक्त मिलता है।

इस दैत्याकार और बेहद खर्चीले नेताशाही और नौकरशाही के तंत्र का 90 फीसदी से भी अधिक बोझ वह गरीब जनता उठाती है। जिसे जीने की बुनियादी सुविधाएँ तक नसीब नहीं। टैक्सों से होने वाली सरकारी खजाने की आमद का 90 फीसदी से भी अधिक हिस्सा आम लोग परोक्ष करों के रूप में देते हैं। इस फीसदी से भी कम हिस्सा पूँजीपतियों और सम्पत्तिशाली वर्गों द्वारा दिये जाने वाले टैक्सों का होता है। तुर्रा यह कि उन टैक्सों का भी बड़ा हिस्सा वे नहीं देते। सरकार भी उन्हें 'टैक्स हॉलिडे' और 'टैक्स ब्रेक' के रूप में तथा समय-समय पर विशेष टैक्स छूटों

(पेज 12 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 11 से आगे)

के रूप में सालाना खरबों रुपये की छूट देती है। बैंकों से पूँजीपति कर्ज़ लेकर पूँजी-निवेश करते हैं। और सालाना खरबों रुपये का ऐसा कर्ज नहीं लौटाते और कानूनी झोल और वित्तीय घपले के सहारे बेदाग बच निकलते है। इन सबके अतिरिक्त सरकार उन्हें तरह-तरह की सब्सिडी देती है और कारखाने लगाने या खनिज निकालने के लिए कौड़ियों के मोल ज़मीनें देती है।

अब ज़रा इस ''महान जनवादी गणराज्य'' की क़ानून-व्यवस्था और न्यायपालिका की स्थिति को देखें। पहली बात यह कि इस देश का संविधान जनता को जो अत्यन्त सीमित जनवादी अधिकार देता है, वक्त पड़ने पर उसे हड़प लेने के सारे इंतज़ाम भी संविधान के भीतर ही मौजूद हैं। संविधान से छन-रिसकर जो सीमित जनवादी अधिकार नीचे आते हैं, उनका बड़ा हिस्सा क़ानून-व्यवस्था के मकड़जाल में अँटक जाता है और वहाँ से जनवादी अधिकार के कुछ क़तरे यदि निकल भी पाते हैं। तो दफ़्तरों के अफसरों-बाबुओं और थानों के दारोग़ाओं की फाइलों और जेबों में अँटके रह जाते हैं। क़ानून तो औपनिवेशिक हैं ही, उन्हें लागू करने वाले तंत्र का ढाँचा भी मूलत: औपनिवेशिक ही है। भारत की निचली अदालतों में तीन करोड़ से अधिक मुकदमें लम्बित पड़े हैं। देश की जेलों में 70 फीसदी से अधिक विचाराधीन कैदी हैं जिनमें से अधिकांश अपने ऊपर लगे अभियोग के तहत मिलने वाली अधिकतम सज़ा से अधिक समय जेलों में काट चुके हैं। बजट का एक फीसदी से ढाँचागत सुविधाएँ बढ़ाने और जजों की संख्या कम से कम पाँच गुनी बढ़ाने के लिए कह रहा है। जितना पुलिस थानों में। अब भ्रष्टाचार का दीमक शीर्ष स्तरों तक पैठ चुका है। वकील शान्तिभूषण प्रशान्तभूषण ने उच्चतम न्यायालय के अबतक के कई मुख्य न्यायाधाशों को भ्रष्ट बताया है। उच्च न्यायालयों के कई न्यायाधीशों पर भ्रष्टाचार के आरोप है। उच्चतम और उच्च न्यायालयों में जजों की नियुक्तियों और तरक्कियों में पूँजीपति घरानों के हितों से प्ररित और सरकार की अनुकूलता से प्रेरित राजनीतिक हस्तक्षेप के आरोप आम बात है। न्यायपालिका न तो राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त है, न ही वर्गीय पूर्वाग्रह से।

श्रम क़ानूनों का स्वरूप जटिल है। 165 श्रम क़ानून पुराने पड़ चुके हैं। उच्चतम न्यायालय भी स्वीकार कर चुका है कि श्रम न्यायालयों और समूची न्यायपालिका से श्रमिकों को न्याय नहीं मिलता। श्रम न्यायालय और ट्रिब्युनल मामलों को लटकाकर मालिकों का हित साधते हैं। श्रम विभाग मालिकों के एजेण्ट की भूमिका निभाता है। देश की 93 फीसदी कामगार आबादी अनौपचारिक क्षेत्र में काम करती है (इसमें से 58 फीसदी कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र में काम करने वाली ग्रामीण मज़दूर आबादी है। अनौपचारिक क्षेत्र के इन मज़दूरों को किसी भी किस्म की रोज़गार सुरक्षा या सामाजिक सुरक्षा नहीं हासिल है। काम के घण्टे, ओवरटाइम, न्यूनतम मज़दूरी, छुट्टी, मेडिकल, दुर्घटना की स्थिति में मुआवज़ा, कार्यस्थल पर सुविधाओं तथा ठेका मज़दूरों में मुआवज़ा मज़दूरों, प्रवासी मज़दूरों और स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित जो श्रम क़ानून काग़ज़ों पर मौजूद भी हैं, वे वास्तव में शायद ही कहीं अंशत: भी लागू होते हों। मज़दूरों के लिए जनवाद कामतलब शब्दश: मात्र यही रह गया है कि शासक वर्गों की इस या उस पार्टी को वोट देकर अपने ऊपर शासन करने का अधिकार सौंप दे।

'भारतीय पुलिस देश की सर्वाधिक संगठित गुण्डा फोर्स हैं'–यह बात जस्टिस ए.एन.मुल्ला ने काफ़ी पहले कहीं थी। आज भी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है। तमाम आयोगों की सुधार विषयक सिफ़ारिशों को दीमक चाट रहे हैं। मानवाधिकार आयोग दंतनखहीन है। थानों में टॉर्चर, हिरासत में मौतें, फ़र्जी मुठभेड़े, फ़र्जी अभियोग लगाकर नकली गवाह खड़ा करके मुकदमें क़ायम करना–आम पुलिसिया दस्तूल है। आम नागरिकों को पुलिस सड़कों पर ठगों-बटमारों की तरह लूटती है और गुण्डों की तरह पीटती है। भारतीय जेले पुराणों में वर्णित नर्क की जीती-जागती मिसालें हैं। वे आज भी अंग्रेजों के ही ज़माने के ढंग-ढर्रे पर चलती हैं। दरअसल ''महान भारतीय लोकतन्त्र'' के महातमाशे को चलाने रहने के लिए जेल-पुलिस-थाने की ऐसी ही निरंकुश दमनकारी मशीनरी की सत्ताधारियों को ज़रूरत है।

औपनिवेशिक काले क़ानूनों के अलावा आज़ादी के बाद बने काले क़ानूनों की एक लम्बी फेहरिस्त है, जिन्हें जनता के जनवादी अधिकारों को कुचलने के लिए मनमाने ढंग से इस्तेमाल किया जाता है। 'मीसा', डी.आइ.आर., एन.एस.ए., टाडा, पोटा आदि ऐसे ही काले क़ानून थे। एक क़ानून जब बहुत बदनाम हो जाता है तो उसकी जगह लेने दूसरा क़ानून आ जाता है। एन.एस.ए. (राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून) और गैर क़ानूनी गतिविधि निरोधक क़ानून (यू.ए.पी.ए) अभी भी लागू हैं। अंग्रेजों के समय के जिस कुख्यात राजद्रोह के क़ानून के तहत तिलक और गाँधी को सज़ा सुनाई गयी थी और जिसे नेहरू ने भी 'बर्बर' कहा था, वह आज भी लागू है और उसी के तहत विनायक सेन और कई अन्य लोगों पर मुकदमें चलाये जा रह हैं। 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून' ब्रिटिश सत्ता के एक अध्यादेश की तर्ज़ पर बनाया गया क़ानून है, जिसके लागू होने पर किसी भी इलाके में वस्तुत: सैनिक शासन जैसी स्थिति हो जाती है और आम जनता के जनवादी अधिकार बेमानी हो जाते हैं। उत्तर-पूर्व के राज्यों में 1958 से और जम्मू-काश्मीर में 1990 से यह क़ानून लागू है। मज़दूरों की हड़तालों को कुचलने के लिए सरकार के तरकश में 'आवश्यक सेवा क़ानून' (एस्मा) का विषबुझा तीर मौजूद रहता है।

केन्द्र के अतिरिक्त अधिकांश राज्य सरकारों के पास जनता की संगठित आवाज़ को कुचलने के लिए तरह-तरह के काले कानून मौजूद हैं। इनमें 'छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा क़ानून', 'पंजाब सार्वजनिक एवं निजी सम्पत्ति को क्षति निरोधक क़ानून 2010, 'पंजाब स्पेशल सिक्योरिटी ग्रुप क़ानून 2010' और 'मकोका' आदि महज कुछ उदाहरण हैं। जाहिर है कि शोषण और अत्याचार के विरुद्ध उठने वाले हर सम्भावित जनज्वार को कुचल डालने के लिए शासक वर्ग चाक-चौबन्द है। बुर्जुआ काले क़ानून हुकूमत के हर काले कारनामे को जायज़ ठहराने के लिए तैयार किये गये हैं।

(अगले अंक में जारी)

जनता के विरुद्ध सरकार के आतंकवादी युद्ध की सच्चाई एक बार फिर बेपर्दा

(पेज 1 से आगे)

में आपरेशन ग्रीन हण्ट के नाम पर अर्द्धसैनिक बलों का एक सघन अभियान छत्तीसगढ़, आन्ध्र प्रदेश, झारखण्ड से लेकर उड़ीसा तक शुरू किया गया । इस सैन्य अभियान के तहत क्षेत्र के स्कूलों से लेकर सरकारी इमारतों तक को सेना की छावनियों में तब्दील कर दिया गया। सी.आर.पी.एफ., कोबरा बटालियन और बी. एस.एफ. जैसे अत्याधुनिक हथियारों और प्रशिक्षण से लैस दो लाख पुलिस फोर्स लगायी गयी थी। बस्तर के घने जंगलों के भीतर माओवादियों का मुकाबला करने में तो ये बल असफल रहे लेकिन इस इलाके के आदिवासी गाँवों पर उन्होंने जो कहर बरपा किया है उसकी सच्चाई अनेक संगठनों की जाँच टीमों और कई पत्रिकाओं की रिपोर्टों में सामने आ चुकी है।

सरकार इन बातों से लगातार इनकार करती रही है लेकिन अब सारी सच्चाई सामने आ चुकी है और उच्चतम न्यायालय के फैसले के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि इस सैन्य कार्रवाई का असली मकसद देशी और विदेशी कम्पनियों के साथ किये गये अनुबन्धों के दबाव में अयस्कों की खानों और अकूत प्राकृतिक संपदा से भरी ज़मीन को आदिवासियों से खाली करवाना है। नक्सलवाद से प्रभावित क्षेत्रों में देशी और विदेशी कम्पनियों द्वारा लगभग 6.6 लाख करोड़ रुपये के निवेश के अनुबन्ध किये जा चुके हैं। अकेले उड़ीसा में 2.7 अरब डालर की कीमत का बॉक्साइट का भण्डार मौजूद है। छत्तीसगढ़ में रावघाट की पहाड़ियों में कुल 7.4 अरब टन सबसे उन्नत किस्म का लौह अयस्क मौजूद है। सारी कम्पनियाँ इस प्राकृतिक सम्पदा पर नज़र गड़ाये बैठी हैं। इसे ध्यान में रखें तो आसानी से समझ आ जाता है कि मनमोहन सिंह अचानक क्यों कहने लगे कि नक्सलवाद देश की आन्तरिक सुरक्षा को सबसे बड़ा ख़तरा है।

छत्तीसगढ़, उड़ीसा, बंगाल के जंगल महल आदि आदिवासी इलाकों में प्राकृतिक सम्पदा को हथियाने के लिए आदिवासियों को बेरहमी से बिना किसी सामाजिक सुरक्षा और पुनर्वास के उनकी ज़मीन से उजाड़ा जा रहा है। बेदखली की इस पूरी प्रक्रिया के विरोध में होने वाले हर जन आन्दोलन को सरकार द्वारा बलपूर्वक कुचला जाता रहा है। इसके विरुद्ध आदिवासी जन अपने जीवन और मृत्यु की लड़ाई लड़ रहे हैं और सरकारी नीतियों के शिकार इन आदिवासियों के संघर्ष में माओवादी उनका साथ दे रहे हैं । भारतीय क्रान्ति की आम राजनीतिक दिशा और रणनीति को लेकर माओवादी राजनीतिक धारा के साथ किसी का मतभेद हो सकता है, उनके कई एक्शंस को हम आतंकवाद और अराजकतावादी कार्रवाई की श्रेणी में भी रखते हैं, लेकिन यह एक अलग बहस का विषय है। मगर इस क्षेत्र की ज़मीनी हकीकत यह है कि सरकार वहाँ जो युद्ध चला रही है वह माओवादी राजनीतिक धारा के विरुद्ध ही नहीं बल्कि आम आदिवासी जनता के विरुद्ध चलाया जा रहा है।

जनता के विरुद्ध इस युद्ध का दायरा विस्तारित होकर आगे बढ़ा है तो जो कोई भी आदिवासी आबादी को उजाड़े जाने का विरोध करता है उसे "माओवादी" घोषित कर दिया जाता है। छत्तीसगढ़ सरकार ने 2005 में छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा कानून 2005 पारित किया जिसके तहत किसी भी व्यक्ति को माओवादियों से सहानुभूति रखने के जुर्म में गिरफ़्तार किया जा सकता है। इसी के तहत 2007 में डा. विनायक सेन के साथ पीयूष गुहा व अन्य को गिरफ़्तार किया गया और दिसम्बर 2010 में ज़िला न्यायालय ने उन्हें देशद्रोह के आरोप में उम्र कैद की सज़ा सुनाई। अप्रैल 2011 में उच्चतम न्यायालय ने डा. सेन को ज़मानत देते हुए जो टिप्पणियाँ कीं उनसे जिस प्रकार पूँजीवादी जनतंत्र की सच्चाई पूरी दुनिया के सामने उजागर हुई और इसके चेहरे पर जो कालिख पुती वह आज किसी से छुपी नहीं है।

डा. सेन को तो ज़मानत मिल गयी लेकिन देश भर में जन आन्दोलनों के दमन से लेकर जनता का नेतृत्व कर रहे कार्यकर्ताओं और जनवादी संगठनों को माओवाद के नाम पर निशाना बनाया जा रहा है। आज भी हज़ारों निर्दोष ग़रीब आदिवासी, किसान, मज़दूर और सामाजिक कार्यकर्ता अनेक झूठे आरोपों में, बिना किसी सुनवाई के सालों से जेल में पड़े हुए हैं।

पहले आपरेशन ग्रीन हंट की असफलता और अब सलवा जुडुम पर उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रतिबन्ध लगाने से पूँजीपतियों और सरकार को ज्यादा चिन्ता नहीं है क्योंकि जिन सैकड़ों सहमतिपत्रों पर हस्ताक्षर हो चुके हैं उनके तहत जमीन पर कब्ज़ा करने और जनता को उजाड़ने के लिए सरकारी कार्रवाई शुरू हो चुकी है।

छत्तीसगढ़ में काउण्टर-इन्सर्जेन्सी (जंगल वारफेयर) प्रशिक्षण के लिए जमीन अधिग्रहण करने से पहले सेना ने ज़मीनी निरीक्षण आरम्भ कर दिया है । रावघाट इलाके में लोहे की खानें उस इलाके से सिर्फ 25 किलोमीटर दूर स्थित हैं, जहाँ छत्तीसगढ़ सरकार ने सेना को 750 वर्ग किलोमीटर ज़मीन अधिग्रहण की अनुमति दी है। सरकार के इस भोले तर्क पर कौन विश्वास करेगा कि यह ज़मीन सिर्फ प्रशिक्षण के लिए ली गयी है। सेना के पास युद्धाभ्यास के लिए कई-कई विशाल बीहड़ जंगली, रेगिस्तानी व पठारी इलाक़े पहले से मौजूद हैं फिर भी उसे कैम्प बनाने के लिए रायगढ़ का आदिवासी ही क्यों मिला, जो कि अपार खनिज सम्पदा का भण्डार है। सरकार ने 'काउंटर-इन्सर्जेंसी ट्रेनिंग' के लिए सेना को आख़िर उसी इलाक़े में विशाल जगह क्यों दी जहाँ वह बरसों से माओवाद के नाम पर समूची आदिवासी जनता के विरुद्ध विनाशकारी युद्ध और उजाड़ने की बर्बर मुहिम चलाती रही है?

रावघाट परियोजना के समर्थन में सरकार प्रचार कर रही है कि यदि यहाँ खनन शुरू न किया गया तो भिलाई स्टील प्लांट में लौह अयस्क की आपूर्ति नहीं हो सकेगी और इसको बन्द करना पड़ सकता है, जिससे हजारों मजदूरों का भविष्य ख़तरे में पड़ जायेगा। लेकिन सवाल यह है कि यदि मौजूदा खानों से अयस्क की आपूर्ति नहीं हो पा रही है, तो सरकार बैलाडिला खानों के अयस्क का निर्यात जापानी, चीनी, और कोरियाई कम्पनियों को क्यों कर रही है? सच तो यह है कि सरकार टाटा, एस्सार, जिन्दल और नीको जैसे बड़ी-बड़ी कम्पनियों के इशारे पर सिर्फ रावघाट की खानें ही नहीं बल्कि सेल और बी. एस.पी. को भी निजी कम्पनियों को बेचने की योजना बना रही है। सरकार समझती है कि यह सब करने पर ज़बर्दस्त जन प्रतिरोध होगा, इसलिए वह एक बर्बर चोट करके इसे एकबारगी हल करना चाहती है। जिस प्रकार उद्योगपति इस पूरे क्षेत्र की प्राकृतिक सम्पदा पर गिद्धों की तरह नज़र लगाये हुए हैं, और जनता को उजाड़ने के लिए पूरे योजनाबद्ध तरीक़े से जुटे हुए हैं, उसे देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए अगर इस पूरे क्षेत्र में भी पूर्वोत्तर और जम्मू-कश्मीर की तरह ए.एफ. एस.पी.ए. के तहत सैन्य शासन जैसे हालात पैदा कर दिये जायें।

नवउदारवाद के दौर में जनता के विरुद्ध सरकार का आर्थिक-सामाजिक युद्ध और घनीभूत होगा। यह समय की बात है कि देश के विभिन्न इलाक़ों में जनता के ख़िलाफ़ सरकार की खुली आतंकी कार्रवाई युद्ध के रूप में फूट पड़े। सरकार ने तो आने वाले दिनों की योजना बना ली है। जो लोग जनता के जनवादी अधिकारों के बारे में सोचते हैं, अब उनके सोचने की बारी है। सरकार के इस जनविरोधी युद्ध का जवाब व्यापक जनता को उसके बुनियादी अधिकारों पर संगठित करके ही दिया जा सकता है और हमें जल्द से जल्द इस काम में जुट जाना चाहिए।

-मनन

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की 90वीं वर्षगाँठ पर

चीन के लुटेरे शासकों के काले कारनामे महान चीनी क्रान्ति की आभा को मन्द नहीं कर सकते

फिर उठ खड़ी होगी चीन में एक सच्ची क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी

दुनिया की महानतम क्रान्तियों में से एक, चीन की नवजनवादी क्रान्ति का नेतृत्व करने वाली चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के 90 वर्ष पिछली 1 जुलाई को पूरे हो गये। यह इतिहास की एक अश्लील विडम्बना है कि पार्टी की 90वीं वर्षगाँठ का जश्न वे लोग मना रहे थे जिन्होंने पिछले 35 वर्षों के दौरान इस क्रान्ति की एक-एक उपलब्धि को धूल में मिला दिया है।

पूरी दुनिया का पूँजीवादी मीडिया चीनी क्रान्ति और उसके नेता माओ त्से-तुङ के ख़िलाफ़ अफ़वाहों, कुत्सा-प्रचारों और झूठ के अम्बार खड़े करता रहा है। मगर इस समस्त झूठे प्रचार और चीन के नये पूँजीवादी शासकों के काले कारनामों से उस महान क्रान्ति की आभा मन्द नहीं पड़ी है जिसने सदियों से लूटे और कुचले जा रहे विशाल देश की सोयी हुई जनता को एक प्रचण्ड चक्रवाती तूफान की भाँति जगाकर खड़ा कर दिया था। चीन की साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति ने एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों और नव उपनिवेशों में जारी राष्ट्रीय मुक्तियुद्धों के लिए पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभाई। लोकयुद्धों की विजय ने उपनिवेशवाद के दौर को सदा के लिए इतिहास की कचरा पेटी के हवाले कर दिया और साम्राज्यवाद को पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया था।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीनी जनता ने तेज़ी से डग भरे और विकट चुनौतियों का सामना करते हुए करोड़ों-करोड़ लोगों को भूख, अभाव, बर्बर सामन्ती दासता, उत्पीड़न और पिछड़ेपन से मुक्त करने की दिशा में शानदार उपलब्धियाँ हासिल कीं। सामूहिक शक्ति और जनता की ताक़त के बल पर क्या किया जा सकता है इसकी अद्‌भुत मिसालें पेश करते हुए चीनी जनता ने कृषि, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में कुछ ही वर्षों में जैसी अभूतपूर्व प्रगति की उसने पश्चिम के विशेषज्ञों को दाँतों तले उँगली दबाने पर मजबूर कर दिया। एक समय ऐसा था जब पश्चिम के तमाम विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में सबसे अधिक शोध और अध्ययन चीन में हो रही अद्‌भुत और करिश्माई घटनाओं पर किया जा रहा था। करोड़ों-करोड़ जनता की पहलकदमी को जगाने और उसे बदलाव की ज़बदर्स्त शक्ति में तब्दील करने का नेतृत्व कर रही थी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी।

तब से लेकर आज तक एक लम्बा समय बीत चुका है। सोवियत संघ और चीन में प्रगति, न्याय, समता और स्वतंत्रता के नये कीर्तिमान स्थापित करने वाली हमारी सदी की दोनों महानतम क्रान्तियाँ मानवता को बहुत कुछ दे चुकने के बाद पराजित हो चुकी हैं। 1976 में माओ त्से-तुङ की मृत्यु के बाद चीन में सत्ता पर कब्ज़ा करने वाले पूँजीवादी पथगामी "बाजार-समाजवाद" के नाम पर अब पूँजीवाद को मुकम्मल तौर पर बहाल कर चुके हैं। इस उल्टी लहर का असर पूरी दुनिया पर हुआ है। मेहनतकश अवाम के ख़िलाफ़ दुनिया भर के पूँजीपतियों ने अपनी पूँजी की ताकत और आर्थिक नीतियों से तो चौतरफा हमला बोला ही है, विचार और संस्कृति के स्तर पर भी वे हावी होकर लड़ रहे हैं। मेहनतकश जनता से अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों की स्मृतियों को, समतामूलक भविष्य के स्वप्नों को और समाजवादी परियोजनाओं को छीनने की हर चन्द कोशिशें की जा रही हैं। क्रान्ति की धारा

पर प्रतिक्रान्ति की धारा पूरी तरह हावी दीख रही है। लोगों को यकीन दिलाने की कोशिश की जा रही है कि पूँजीवाद ही मानव-इतिहास के विकास की आखिरी मंजिल है।

●

"चीनी जनता उठ खड़ी हुई है!" एक अक्टूबर, 1949 को राजधानी पेइचिङ के केन्द्र में स्थित तिएन एन मेन चौक में लहराते विशाल जनसमुद्र के समक्ष इसी उद्‌घोष के साथ माओ त्से-तुङ ने चीनी लोक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की थी।

लम्बे, शौर्यपूर्ण जनयुद्ध ने दिखायी मुक्ति की राह

चीन एक शताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक साम्राज्यवादी प्रभुत्व और बन्दरबाँट का शिकार रहा। पहले से ही मध्यकालीन सामन्ती उत्पीड़न से तबाह और टूटी हुई किसान जनता से साम्राज्यवादी ताकतों ने खून की आखिरी बूँद तक निचोड़ लेने की कोशिश की। 1840 के दशक में ब्रिटेन ने अफीम युद्ध इसलिए छेड़ा कि चीनी अफीम का व्यापार जारी रखें। लाखों चीनी अफीमची हो गये और ब्रिटेन के व्यापारियों-बैंकरों की थैलियाँ मोटी होती रहीं।

डा. सुन यात-सेन के नेतृत्व में हुई 1911 की पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति ने सामन्ती राजतंत्र का तख्ता तो पलट दिया पर यह क्रान्ति अधूरी रही। साम्राज्यवादी षड्‌यंत्र ने चीन को अलग-अलग युद्ध-सरदारों के प्रभुत्व वाले कई "राज्यों" में बाँट दिया। चीन के किसान बर्बर सामन्ती उत्पीड़न के शिकार थे। शहरी व्यापारिक और औद्योगिक अर्थव्यवस्था नौकरशाह-दलाल पूँजीपतियों के माध्यम से सीधे साम्राज्यवाद के मातहत थी।

मई, 1919 का महीना चीन के इतिहास का एक नया प्रस्थान बिन्दु सिद्ध हुआ। चीन के छात्रों-युवाओं की भारी आबादी चीन पर विदेशी प्रभुत्व – विशेषकर जापानी प्रभुत्व का विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई। '4 मई आन्दोलन' नाम से प्रसिद्ध इस आन्दोलन ने ठहरे हुए चीनी समाज में उथल-पुथल पैदा कर दी। क्रान्तिकारी जनवादी विचारों से प्रभावित छात्रों के बीच से आगे बढ़कर कई युवाओं ने बाद में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी क्रान्ति में अग्रणी एवं नेतृत्वकारी भूमिका निभायी।

4 मई आन्दोलन के आसपास ही चीनी क्रान्ति के भावी नेता, युवा माओ त्से-तुङ पहली बार मार्क्सवाद के सम्पर्क में आये। जुलाई, 1919 में उन्होंने हुनान से एक पत्रिका निकालनी शुरू की और 1920 की गर्मियों में क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने एक सांस्कृतिक अध्ययन सोसायटी संगठित की। 1920 की शरद में उन्होंने च्याङशा में कम्युनिस्ट ग्रुप कायम किये।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और क्रान्तिकारी संघर्ष का विकास

1 जुलाई, 1921 को शंघाई शहर में चेन तू जिउ और ली ता चाओ के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। हालाँकि पार्टी के गठन की औपचारिक घोषणा दक्षिणी झील में एक बड़ी नाव पर हुई क्योंकि चीनी और फ्रांसीसी जासूसों के कारण बैठक का स्थान बदलना पड़ गया था। इससे कुछ वर्ष पहले से ही चीन में कम्युनिस्ट अध्ययन मण्डल और उनके आपसे तालमेल का अनौपचारिक नेटवर्क काम करने लगा था। 1 जुलाई को हुई स्थापना कांग्रेस में विभिन्न कम्युनिस्ट समूहों के 53 प्रतिनिधि तथा कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के दो प्रतिनिधि शामिल थे। माओ त्से-तुङ हुनान कम्युनिस्ट ग्रुप के दो प्रतिनिधियों में से एक की हैसियत से इसमें मौजूद थे। इस कांग्रेस में सभी कम्युनिस्ट ग्रुपों ने अपने अलग-अलग नामों को ख़त्म कर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी नाम से काम करने का निर्णय किया और आम सहमति से क्रान्ति का कार्यक्रम तय किया।

शुरुआती कुछ वर्षों के दौरान चीनी समाज की प्रकृति और चीनी क्रान्ति के विशिष्ट स्वरूप के बारे में गलत धारणाओं के चलते चीनी कम्युनिस्टों को एक के बाद एक कई हारों का सामना करना पड़ा। क्रान्तिकारी सेनाएँ प्रतिक्रियावादी सेनाओं से घिर गयीं और उनका अन्त करीब लगने लगा। इस कठिन स्थिति से क्रान्ति को उबारकर आगे बढ़ाने में माओ ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। उस समय से लेकर 1949 में जनवादी क्रान्ति सम्पन्न होने तक, और फिर आगे समाजवादी निर्माण एवं क्रान्ति के कठिन वर्ग संघर्ष और अनूठे प्रयोगों भरे दौर में, 1976 तक, मृत्युपर्यन्त माओ ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और जनता को नेतृत्व दिया। यही नहीं, चीन की जनवादी क्रान्ति और फिर समाजवादी क्रान्ति के दौर के प्रयोगों – विशेषकर 1966-76 की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के विश्वव्यापी ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए माओ त्से-तुङ को मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन के बाद अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के पाँचवे शिक्षक और नेता का दर्जा दिया गया।

माओ त्से-तुङ ने पहली बार यह स्थापना दी कि चीन जैसे बहुसंख्यक किसान आबादी वाले अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक देश में किसान क्रान्ति की मुख्य ताकत होंगे। सर्वहारा वर्ग की भूमिका यहाँ नेतृत्वकारी होगी। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी, लाल सेना और संयुक्त मोर्चा को नवजनवादी क्रान्ति के तीन चमत्कारी हथियारों की संज्ञा दी। रूसी क्रान्ति के सशस्त्र आम बगावत के रास्ते से अलग माओ ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के क्रान्ति मार्ग का राजनीतिक एवं सैनिक सिद्धान्त कठिन क्रान्तिकारी संघर्षों के दौरान विकसित किया। उन्होंने बताया कि चीनी क्रान्ति देहातों में लाल आधारों का निर्माण करके, शहरों को घेरकर और इस प्रकार अन्ततः पूरे देश में राजनीतिक सत्ता जीतकर ही विजयी हो सकती है। अपनी इस प्रस्थापना को उन्होंने व्यवहार में भी सिद्ध कर दिखाया।

भूमि क्रान्ति के कठिनतम दौर में प्रतिक्रान्तिकारी सेना की भारी शक्ति से बचने के लिए लाल सेना ने उस ऐतिहासिक 'लम्बे अभियान' की शुरुआत की, जिसकी अतुलनीय शौर्य-गाथा पर दुनिया दंग रह गई। अक्टूबर, 1934 में शुरू हुए इस महा अभियान के दौरान लाल सेना ने प्रतिदिन शत्रुओं से लोहा लेते हुए 6,000 मील की यात्रा 12 प्रान्तों, 18 पहाड़ों और 24 नदियों को पार करते हुए 13 महीनों में पूरी की। 1,60,000 लोगों में से सिर्फ 8,000 लोग ही शान्सी पहुँचने तक बचे रहे। पर यह अकूत कुर्बानी रंग लाई। 'लम्बे अभियान' ने क्रान्ति के अग्निमुखी बीज पूरे देश के किसानों में बो दिये। माओ की भविष्यवाणी को चरितार्थ करती हुई करोड़ों किसान जनता एक प्रचण्ड, अदम्य तूफान की तरह उठ खड़ी हुई। जापानी साम्राज्यवादियों को धूल चटाने के साथ ही अमेरिकी साम्राज्यवाद समर्थित च्याङ काइ शेक की फ़ौजों को हराकर 1 अक्टूबर, 1949 को (ताइवान, हाङकाङ और मकाओ को छोड़कर) पूरे चीन को लाल कर देने का सपना साकार हो गया।

समाजवादी निर्माण के शानदार प्रयोग

चीन लोक गणराज्य की स्थापना के बाद माओ ने कहा था, "देशव्यापी स्तर पर जीत हासिल करना दस हज़ार ली लम्बे अभियान का पहला कदम मात्र है। चीनी क्रान्ति महान है, लेकिन क्रान्ति के बाद का रास्ता तथा कार्य अधिक महान एवं अधिक कठिन है।"

इन शब्दों में क्रान्ति का स्वागत करते हुए माओ ने एक बेहद पिछड़े देश को समाजवाद के प्रकाश स्तम्भ और विश्व क्रान्ति के आधार-क्षेत्र में रूपान्तरित कर देने के लिए चीनी के सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनता को तैयार किया। लोक युद्ध के लम्बे वर्षों और आधार क्षेत्रों में व्यवस्था-संचालन के अनुभवों ने इस नयी यात्रा में काफी मदद की। मानव इतिहास में सबसे बड़े पैमाने पर भूमि के पुनर्वितरण और विदेशी तथा दलाल पूँजीपतियों के कारख़ानों एवं पूँजी के राष्ट्रीकरण के साथ-साथ स्त्रियों को पूरी समानता देने सहित सामाजिक जीवन में भी अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

नवजनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने के साथ ही माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी और जनता समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में – एक ऐसी आत्मनिर्भर समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में जुट गई जो विश्व साम्राज्यवादी बाजार की दमघोंटू और विकलांग बना देने वाली जकड़बन्दी से मुक्त हो। जल्दी ही दुनिया ने यह चमत्कार भी घटित होते देखा। पचास के दशक में चीन की मेहनतकश आबादी के श्रम को एक विराट शक्ति के रूप में सृजनशील और उत्पादक

(पेज 14 पर जारी)

फिर उठ खड़ी होगी चीन में एक सच्ची क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी

(पेज 13 से आगे)

बनाकर अकाल, भुखमरी, बीमारियों, अशिक्षा और पिछड़ेपन के लिए प्रसिद्ध देश का कायापलट कर दिया गया। दस वर्षों के भीतर बेरोज़गारी का ख़ात्मा हो गया। गाँवों से लेकर शहरों तक स्त्रियों की भारी आबादी चूल्हे-चौखट से बाहर आकर कम्यूनों में सामाजिक उत्पादन से लेकर प्रबन्धन एवं राजनीति तक के कामों में शिरकत करने लगी। स्वास्थ्य और शिक्षा की सेवाएँ सर्वसुलभ हो गयीं। वेश्यावृत्ति, नशाख़ोरी, जुआ, बाल मज़दूरी, भुखमरी आदि का नामोनिशान तक मिट गया। तूफानी नदियों को बाँधकर विनाशकारी बाढ़ों को समाप्त कर दिया गया और नहरों का जाल बिछाकर सिंचाई सुविधाओं का तेज विस्तार किया गया। उत्पादन-टीमों, ब्रिगेडों और कम्यूनों ने दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में भी उपजाऊ सीढ़ीदार खेत बना डाले और सभी तरह की ऊसर-बंजर धरती को अन्नपूर्णा बना दिया गया। सड़कों- रेलमार्गों-पुलों का अभूतपूर्व गति से विकास हुआ। 1960 तक चीन बिजली और लोहा सहित तमाम बुनियादी और ढाँचागत उद्योगों का अपना ताना-बाना खड़ा कर चुका था।

भितरघातियों-पूँजीवादी पथगामियों के ख़िलाफ़ संघर्ष और भविष्य की राह की खोज

लेकिन पार्टी के भीतर घुसे भितरघातियों ने शोषण और ग़ैर-बराबरी को जड़ से मिटा देने की इस यात्रा को बीच में ही रोक देने और चीनी समाज को पूँजीवादी राह पर आगे बढ़ाने की साज़िशें शुरू कर दीं। माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर और चीनी समाज में ऐसे भितरघातियों के ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ दिया गया और व्यापक जनसाधारण को उसमें भागीदार बनाया गया।

अपने देश और अपनी पार्टी के भीतर ऐसे पूँजीवादी पथगामियों से संघर्ष करने के साथ ही माओ ने सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय और ख्रुश्चेव के नेतृत्व में नई पूँजीवादी सत्ता की स्थापना का भी गहन विश्लेषण किया और इसे समझने के बाद उन्होंने रूसी पार्टी के खिलाफ 'महान बहस' चलाकर विश्व सर्वहारा क्रान्ति के प्रति अपने अन्तरराष्ट्रीयतावादी दायित्वों का तो निर्वाह किया ही, अपने देश में भी समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने के बारे में वे ऐतिहासिक महत्व वाले नतीजों की दिशा में आगे बढ़ चले। इसी का नतीजा थी – 1966 में शुरू हुई महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जो न केवल चीनी क्रान्ति की यात्रा का बल्कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति की यात्रा का अब तक का अग्रतम मील का पत्थर है।

क्रान्ति काल में माओ त्से-तुङ खदान मज़दूरों से बात करते हुए

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष को जारी रखने की आम दिशा और उसके मार्ग की जो आम रूपरेखा प्रस्तुत की वह पूरी दुनिया के सभी देशों के लिए तबतक प्रासंगिक रहेगी जबतक कि मानवता कम्युनिज्म की मंजिल में प्रविष्ट नहीं हो जाती।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान इस बात को और अधिक ठोस रूप में स्पष्ट किया गया कि समाजवादी समाज में वर्ग मौजूद रहते हैं और वर्ग-संघर्ष लगातार जटिल और विकट रूप में जारी रहता है। बुर्जुआ वर्ग को धीरे-धीरे आगे बढ़कर फिर से सत्ता हथिया लेने से रोकने के लिए उसपर चौतरफा अधिनायकत्व लागू करना होगा और उसके खिलाफ क्रान्ति को सतत् जारी रखना होगा। इन तूफानी संघर्षों के दौरान व्यापक जनता सर्वहारा क्रान्तिकारियों की अगुवाई में आगे बढ़कर पार्टी और राज्य के भीतर पनपे बुर्जुआ हेडक्वार्टरों को नष्ट करती रहेगी और आगे के उन्नत स्तर के संघर्ष व समाजवादी निर्माण के लिए पार्टी व राज्य को तैयार करती रहेगी। पूँजीवादी पुनर्स्थापना के भौतिक अधिकार के समूल नाश के लिए बुर्जुआ अधिकारों, भौतिक प्रोत्साहन (लालच देकर काम कराना) और हर तरह की असमानता को कम करते जाना तथा माल-उत्पादन को क्रमशः समाप्त करते जाने के साथ ही माओ ने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, सामाजिक आचार-व्यवहार-संस्था-संस्कार आदि अधिरचना (ऊपरी ढांचा) के सभी अंगों के सतत् क्रान्तिकारीकरण को अपरिहार्य बताया।

चीन में 1966 से 1976 तक जारी सांस्कृतिक क्रान्ति ने न केवल चीन में समाजवाद के विकास को ऊंची छलांगें दीं, बल्कि पूरी दुनिया के सर्वहारा क्रान्तिकारियों को संशोधनवाद और साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नई प्रेरणा, नई युयुत्सा (लड़ने की चाहत), नई ऊर्जा और नई दिशा देने का काम किया।

1949 की नवजनवादी क्रान्ति के बाद चीन में समाजवादी क्रान्ति की यात्रा 27 वर्षों तक जारी रही। 1976 में, सांस्कृतिक क्रान्ति के दस वर्षों के युगान्तरकारी प्रयोग के बावजूद, माओ की मृत्यु के बाद वहां सर्वहारा क्रान्तिकारी पराजित हो गये और सत्तासीन पूँजीवादी पथगामियों ने समाजवाद की समस्त प्रगति को आधार बनाकर पूँजीवादी विकास को तेज गति से आगे बढ़ाया। प्रति व्यक्ति औसत आय, सकल घरेलू उत्पाद, औद्योगिक विकास-दर, पूँजी-निवेश आदि बुर्जुआ मानदण्डों से आज भी चीनी अर्थव्यवस्था दुनिया में सबसे अधिक तेज़ गति से विकसित हो रही है, पर व्यापक मेहनतकश जनता के लिए यह विकास नहीं, विनाश है।

पिछले 35 वर्षों के भीतर चीन में धनी-गरीब के बीच की खाई अभूतपूर्व गति से बढ़ी है। बेरोज़गारों की संख्या कई करोड़ हो चुकी है। कम्यूनों को तोड़ दिया गया है। निजी स्वामित्व की अनेक रूपों में बहाली जारी है। विदेशी पूँजी और कचरा संस्कृति के लिए देश के दरवाज़ों को एकदम खोल दिया गया है और चीनी जनता के श्रम से मुनाफ़ा निचोड़कर पश्चिम अपने संकट का बोझ हल्का कर रहा है। आज के चीन में तमाम पुरानी सामाजिक बुराइयाँ वापस लौट आयी हैं, जैसे वेश्यावृत्ति, भीख माँगना, घूसखोरी, चोरी, तरह-तरह के भ्रष्टाचार और नारी-विरोधी अपराध। स्त्रियों को आर्थिक-सामाजिक गतिविधियों से अलग करके फिर घर की चारदिवारी में कैद किया जा रहा है या उनसे बहुत कम तनख्वाह में काम कराये जा रहे हैं। ग्रामीण इलाकों में कन्या-शिशुओं और भ्रूणों की हत्या बड़े पैमाने पर की जा रही हैं।

चीन में क्रान्ति की इस हार से चीनी जनता और पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग को एक भारी धक्का तो लगा, पर यह इतिहास का अन्त नहीं है। अक्सर ऐसा होता रहा है कि रास्ता खोजने वाली महान क्रान्तियाँ हारती रही हैं और आगे की मुकम्मिल विजयी क्रान्तियों के लिए आधार तैयार करती रही हैं।

माओ ने कहा था कि चीन में पूँजीवादी राते के राही अगर सत्ता पर कब्ज़ा करने में कामयाब भी हो गये तो वे चैन से नहीं बैठ पायेंगे। चीन में मज़दूरों और ग़रीब किसानों के लगातार तेज़ और व्यापक होते संघर्ष इस बात का संकेत दे रहे हैं कि चीन के नये लुटेरे शासकों के चैन के दिन अब लद चुके हैं। वह दिन बहुत दूर नहीं जब चीन में फिर से एक सच्ची क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी उठ खड़ी होगी जो चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की ऐतिहासिक विरासत को आगे बढ़ाते हुए पूँजीवाद को उखाड़ फेंककर कम्युनिज़्म की ओर एक नये लम्बे अभियान में चीनी जनता का नेतृत्व करेगी।

– सत्यप्रकाश

बढ़ती महँगाई ग़रीबों के ख़िलाफ सरकार के लुटेरे युद्ध के समान है

(पेज 1 से आगे)

इसी का नतीजा है कि कुपोषण के कारण कम वज़न वाले बच्चों की सबसे बड़ी संख्या भारत में है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने एक अध्ययन में बताया है कि आज देश में प्रति व्यक्ति औसत खाद्य उपलब्धता बंगाल में 1942-43 में आये भीषण अकाल के दिनों के बराबर पहुँच चुकी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुतेरे परिवारों को दोनों वक्त या सप्ताह के सातों दिन भरपेट खाना नहीं मिलता। आज भी रोज़ लगभग दस हज़ार बच्चे कुपोषण और उससे होने वाली बीमारियों के कारण मर जाते हैं।

दरअसल कीमतें बढ़ने के लिए पूँजीवादी नीतियाँ ही ज़िम्मेदार हैं। महँगाई की असली वजह यह है कि खेती की उपज के कारोबार पर बड़े व्यापारियों, सटोरियों और कालाबाज़ारियों का कब्ज़ा है। ये ही जिन्सों के दाम तय करते हैं और जानबूझकर बाज़ार में कमी पैदा करके चीज़ों के दाम बढ़ाते हैं। पिछले कुछ वर्षों में कृषि उपज और खुदरा कारोबार के क्षेत्र को बड़ी कम्पनियों के लिए खोल देने के सरकार के फैसले से स्थिति और बिगड़ गयी है। अपनी भारी पूँजी और ताक़त के बल पर ये कम्पनियाँ बाज़ार पर पूरा नियंत्रण कायम कर सकती हैं और मनमानी कीमतें तय कर सकती हैं। पूँजीवादी नीतियों के कारण अनाजों के उत्पादन में कमी आती जा रही है। भारत ही नहीं, पूरी दुनिया में1 आज खेती संकट में है। पूँजीवाद में उद्योग के मुकाबले खेती का पिछड़ना तो लाज़िमी ही होता है लेकिन भूमण्डलीकरण के दौर की नीतियों ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया है। अमीर देशों की सरकारें अपने फार्मरों को भारी सब्सिडी देकर खेती को मुनाफ़े का सौदा बनाये हुए हैं। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में सरकारी उपेक्षा और पूँजी की मार ने छोटे और मझोले किसानों की कमर तोड़ दी है। साम्राज्यवादी देशों की एग्रीबिज़नेस कम्पनियों और देशी उद्योगपतियों की मुनाफ़ाखोरी से खेती की लागतें लगातार बढ़ रही हैं और बहुत बड़ी किसान आबादी के लिए खेती करके जी पाना मुश्किल होता जा रहा है। इसका सीधा असर उन देशों में खाद्यान्न उत्पादन पर पड़ रहा है।

सबसे बड़ा कारण यह है कि मेहनतकश जनता की मज़दूरी में लगातार आ रही गिरावट के कारण उसकी खरीदने की शक्ति कम होती जा रही है। दिहाड़ी पर काम करने वाली 44 करोड़ आबादी आज से 10 साल पहले जितना कमाती थी आज भी बमुश्किल उतना ही कमा पाती है जबकि कीमतें दोगुनी-तीन गुनी हो चुकी हैं। पूँजीपतियों को लाखों करोड़ की सब्सिडी देनी वाली सरकार ग़रीबों के लिए भोजन का अधिकार विधेयक लाने का कई साल से शोर मचा रही है लेकिन इसके मसौदे से साफ़ है कि यह तो ग़रीबों को मिलने वाली बची-खुची खाद्य सुरक्षा भी छीन लेने वाला क़ानून होगा। इससे ज़्यादा मानवद्रोही बात और क्या हो सकती है कि जिस देश में आज भी करोड़ों बच्चे रोज़ रात को भूखे सोते हैं वहाँ 35 से 40 प्रतिशत अनाज गोदामों और रखरखाव की कमी के कारण सड़ जाता है। एक्सप्रेसवे, अत्याधुनिक हवाईअड्डों, स्टेडियमों आदि पर लाखों करोड़ रुपये खर्च करने वाली सरकार आज़ादी के बाद 60 साल में इतने गोदाम नहीं बनवा सकी कि लोगों का पेट भरने के लिए अनाज को सड़ने से बचाया जा सके।

महँगाई पूँजीवादी समाज में खत्म हो ही नहीं सकती। जब तक चीज़ों का उत्पादन और वितरण मुनाफ़ा कमाने के लिए होता रहेगा तब तक महँगाई दूर नहीं हो सकती। कामगारों की मज़दूरी और चीज़ों के दामों में हमेशा दूरी बनी रहेगी। मज़दूर वर्ग सिर्फ़ अपनी मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के लिए लड़कर कुछ नहीं हासिल कर सकता। वह लड़ाई लड़कर पूँजीपति से थोड़ी मज़दूरी बढ़वाने में कामयाब भी हो जाता है तो पूँजीपति चीज़ों के दाम बढ़ाकर फिर उसे लूट लेता है। यह सिलसिला लगातार चलता रहता है। मज़दूर की हालत वहीं की वहीं बनी रहती है। इसलिए मज़दूरों को मज़दूरी बढ़ाने के लिए लड़ने के साथ-साथ मज़दूरी की पूरी व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए भी लड़ना होगा।

बुर्जुआ चुनावों और क़ानूनी संघर्षों के बारे में सर्वहारा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण*

• व्ला.इ. लेनिन

जो बदमाश हैं या मूर्ख हैं, वे ही यह सोच सकते हैं कि सर्वहारा वर्ग को पहले पूँजीपति वर्ग के जुए के नीचे, उजरती गुलामी के जुए के नीचे होनेवाले चुनावों में बहुमत प्राप्त करना है और तभी उसे सत्ता हाथ में लेनी है। यह हद दर्जे की बेवकूफ़ी या पाखण्ड है, यह वर्ग-संघर्ष तथा क्रान्ति का स्थान पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत तथा पुरानी सत्ता के रहते हुए चुनावों को देना है।

सर्वहारा अपने वर्ग-संघर्ष को चलाता है और हड़ताल शुरू करने के लिए चुनावों का इन्तज़ार नहीं करता, हालाँकि हड़ताल की पूर्ण सफलता के लिए मेहनतकश जनता के बहुमत की (और फलतः आबादी के बहुमत की) हमदर्दी हासिल करना ज़रूरी है। सर्वहारा (पूँजीपति वर्ग की निगरानी में और उसकी गुलामी के तहत होनेवाले) प्रारम्भिक चुनावों का इन्तज़ार किये बिना अपने वर्ग-संघर्ष को चलाता है और पूँजीपति वर्ग का तख़्ता उलट देता है। सर्वहारा को बख़ूबी मालूम है कि उसकी क्रान्ति की सफलता के लिए, पूँजीपति वर्ग का तख़्ता सफलतापूर्वक उलट देने के लिए यह बिल्कुल ज़रूरी है कि मेहनतकश जनता के बहुमत (और फलतः आबादी के बहुमत) की हमदर्दी उसके साथ हो।

संसदीय कूढ़मगज़ और आज के लुई ब्लां, यह निश्चय करने के लिए कि उन्हें मेहनतकश जनता के बहुमत की सहानुभूति प्राप्त है या नहीं, निरपेक्ष रूप से चुनावों का "आग्रह" करते हैं, उन चुनावों का, जो निश्चित रूप से पूँजीपति वर्ग की निगरानी में होते हैं। परन्तु यह दृष्टिकोण उन लोगों का दृष्टिकोण है, जो जीवन्मृत हैं, कोरी पण्डिताऊ बुद्धि रखनेवाले हैं या धूर्त प्रवंचक हैं।

वास्तविक जीवन तथा वास्तविक क्रान्तियों के इतिहास से पता चलता है कि अक्सर "मेहनतकश जनता के बहुमत की सहानुभूति" किसी भी चुनाव द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती (उन चुनावों का तो कहना ही क्या, जो शोषकों की निगरानी में, शोषकों तथा शोषितों की "समानता" को बनाये हुए होते हैं!)। अक्सर "मेहनतकश जनता के बहुमत की सहानुभूति" चुनावों द्वारा बिल्कुल ही सिद्ध नहीं होती, बल्कि किसी एक पार्टी के विकास द्वारा सोवियतों में उस पार्टी के प्रतिनिधित्व की वृद्धि द्वारा अथवा किसी ऐसी हड़ताल की सफलता द्वारा, जिसने किसी कारण अत्यधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया हो, अथवा गृहयुद्ध में प्राप्त की जानेवाली सफलताओं आदि, आदि द्वारा सिद्ध होती है।

उदाहरण के लिए, हमारी क्रान्ति के इतिहास ने प्रत्यक्ष कर दिया है कि उराल तथा साइबेरिया के विशाल भूखण्डों में सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रति मेहनतकश जनता के बहुमत की सहानुभूति का पता चुनावों के जरिये नहीं चला, बल्कि उस प्रदेश में ज़ारशाही जनरल कोल्चाक के शासन के वर्ष भर के अनुभव से चला। प्रसंगवश, कोल्चाक का शासन भी शीदेमान और काउत्स्की जैसे लोगों (रूसी में वे "मेन्शेविक" तथा "समाजवादी-क्रान्तिकारी", संविधान सभा के समर्थक कहे जाते हैं) के "संश्रय" से शुरू हुआ, ठीक उसी तरह जैसे इस घड़ी जर्मनी में गाअज़े और शीदेमान के अनुयायी अपने "संश्रय" द्वारा फॉन गोल्त्स या लुडेनडोर्फ़ के सत्तारूढ़ होने के लिए रास्ता साफ़ कर रहे हैं, उनकी इस सत्ता को एक ऐसा लिबास पहना रहे हैं कि वह प्रतिष्ठित दिखाई पड़े। चलते-चलते यह भी कह देना चाहिए कि मंत्रिमण्डल में गाअज़े और शीदेमान का संश्रय टूट चुका है, परन्तु समाजवाद के इन द्रोहियों का राजनीतिक संश्रय अभी भी क़ायम है। प्रमाण : काउत्स्की की किताबें, टवतूंतजे में स्टाम्पफ़र के लेख तथा अपने "एकीकरण" के बारे में काउत्स्की और शीदेमान के लेख, आदि।

जब तक मेहनतकश जनता का विशाल बहुमत अपने हरावल को – सर्वहारा को – अपनी सहानुभूति और समर्थन न दे, सर्वहारा क्रान्ति असम्भव है। परन्तु यह सहानुभूति और यह समर्थन एकदम से प्रगट नहीं होते और न ही वे चुनाव द्वारा निश्चित होते हैं। वे दीर्घ, कठोर, विकट वर्ग-संघर्ष के दौरान प्राप्त किये जाते हैं। मेहनतकश जनता के बहुतम की सहानुभूति तथा समर्थन के लिए सर्वहारा जो वर्ग-संघर्ष चलाता है, वह सर्वहारा द्वारा राजनीतिक सत्ता पर अधिकार होने के साथ समाप्त नहीं हो जाता। सत्ता पर अधिकार होने के बाद भी यह संघर्ष चलता रहता है, परन्तु अन्य रूपों में। रूसी क्रान्ति में परिस्थितियाँ सर्वहारा वर्ग के लिए (उसके अधिनायकत्व के लिए उसके सघर्ष में) असाधारण रूप में अनुकूल थीं, क्योंकि सर्वहारा क्रान्ति ऐसे समय हुई, जब पूरी जनता के हाथ मे हथियार थे और जब पूरा किसान वर्ग सामाजिक-विश्वासघातियों, मेन्शेविकों और समाजवादी- क्रान्तिकारियों की "काउत्स्कीवादी" नीति से बुरी तरह खीझकर ज़मीन्दारों के शासन को उलट देना चाहता था।

लेकिन रूस में भी, जहाँ सर्वहारा क्रान्ति के समय परिस्थितियाँ असाधारण रूप से अनुकूल थीं, जहाँ समूचे सर्वहारा वर्ग, समूची सेना और समूचे किसान वर्ग की अद्भुत एकता तुरन्त हासिल हो गयी थी, वहाँ भी सर्वहारा वर्ग को अपना अधिनायकत्व बरतते हुए महीनों और बरसों तक मेहतनकश जनता के बहुमत की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ा। दो साल के बाद यह संघर्ष लगभग समाप्त हो गया है, लेकिन अभी पूरी तरह सर्वहारा के हक़ में समाप्त नहीं हुआ है। दो सालों में हमने उराल और साइबेरिया समेत रूस के मज़दूरों और श्रमजीवी किसानों के विशाल बहुमत की पूर्ण सहानुभूति और समर्थन प्राप्त कर लिया है, परन्तु अभी तक हमने उक्रइना में (शोषक किसानों से भिन्न) श्रमजीवी किसानों के बहुमत का पूर्ण समर्थन और सहानुभूति प्राप्त नहीं की है। हम एन्टेन्ट की सैनिक शक्ति द्वारा कुचले जा सकते हैं, (परन्तु कुचले जायेंगे नहीं), लेकिन रूस के अन्दर अब हमें मेहनतकश जनता के इतने प्रबल बहुमत की इतनी पक्की सहानुभूति प्राप्त है कि संसार में आज तक इतना अधिक जनवादी राज्य और कोई नहीं हुआ है, जितना हमारा राज्य है।

सत्तारूढ़ होने के लिए सर्वहारा संघर्ष के इस जटिल, कठिन तथा सुदीर्घ इतिहास की ओर, जिसमें संघर्ष के रूपों का असाधारण वैविध्य दिखाई देता है और जिसमें आकस्मिक परिवर्तनों, मोड़ों और संघर्ष के एक रूप से दूसरे में रूपान्तरण की असामान्य रूप से भरमार है, थोड़ा-सा ध्यान देने से ही उन लोगों की ग़लती प्रत्यक्ष हो जाती है, जो पूँजीवादी संसद, प्रतिक्रियावादी ट्रेड-यूनियनों, ज़ारशाही अथवा शीदेमान शॉप स्टीवर्ड्स समितियों या मज़दूर परिषदों, इत्यादि, इत्यादि में भाग लेने की "मनाही" करना चाहते हैं। यह ग़लती इसलिए होती है कि मज़दूर वर्ग के सर्वथा ईमानदार, निष्ठापूर्ण तथा साहसपूर्ण क्रान्तिकारी लोग क्रान्तिकारी अनुभव से सम्पन्न नहीं हैं और इसलिए कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग एक बार नहीं, हज़ार बार सही थे, जब जनवरी, 1919 में उन्होंने इस ग़लती को समझा और उसकी ओर इशारा किया, मगर फिर भी सर्वहारा क्रान्तिकारियों के साथ रहने का फ़ैसला किया, गोकि ये क्रान्तिकारी उस छोटे-से सवाल के बारे में ग़लती पर थे, बजाय इसके कि समाजवाद के द्रोहियों, शीदेमान और काउत्स्की जैसे लोगों के पक्ष में जाते, जिन्होंने पूँजीवादी संसद में भाग लेने के प्रश्न पर ग़लती नहीं की थी, परन्तु जो समाजवादी नहीं रह गये थे और कूपमण्डूक जनवादी तथा पूँजीपति वर्ग के साथी-संघाती हो गये थे।

फिर भी ग़लती तो ग़लती ही है और उसकी आलोचना करना तथा उसके सुधार के लिए संघर्ष करना ज़रूरी है।

समाजवाद के साथ ग़द्दारी करने वालों के ख़िलाफ़, शीदेमान तथा काउत्स्की जैसे लोगों के ख़िलाफ़ निर्मम रूप से संघर्ष करना आवश्यक है, परन्तु यह संघर्ष पूँजीवादी संसदों, प्रतिक्रियावादी ट्रेड-यूनियनों, इत्यादि में भाग लेने या न लेने के प्रश्न पर नहीं होना चाहिए। इस प्रश्न को लेकर संघर्ष करना स्पष्ट ही एक ग़लती होगी, और उससे भी बड़ी ग़लती होगी मार्क्सवाद के विचारों तथा उसकी व्यावहारिक नीति (एक शक्तिशाली, केन्द्रीकृत राजनीतिक पार्टी) को छोड़कर संघाधिपत्यवाद के विचारों तथा व्यवहार को ग्रहण करना। पूँजीवादी संसदों में प्रतिक्रियावादी ट्रेड-यूनियनों में और उन "मज़दूर परिषदों" में जिन्हें शीदेमान के अनुयायियों ने विरूपित और निःसत्व कर दिया है, पार्टी की शिरक़त के लिए काम करना ज़रूरी है, यह ज़रूरी है कि जहाँ भी मज़दूर मौजूद हैं, जहाँ भी मज़दूर से बात की जा सके, और मेहनतकश जन समुदायों का प्रभावित किया जा सके, वहाँ पार्टी मौजूद हो। क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी काम को बहरसूरत मिलाना होगा और ग़ैरक़ानूनी पार्टी को अपने मज़दूर संगठनों द्वारा क़ानूनी कार्रवाइयों पर सतत, व्यवस्थित तथा कठोर नियन्त्रण रखना होगा। यह कोई आसान काम नहीं है, परन्तु सामान्यः सर्वहारा क्रान्ति "आसान" कामों से या संघर्ष के "आसान" तरीक़ों से परिचित नहीं है और न हो ही सकती है।

इस मुश्क़िल काम को बहरसूरत पूरा करना होगा। शीदेमान ओर काउत्स्की के गिरोह और हममें अन्तर इतना ही नहीं है (न ही वह मुख्य अन्तर है) कि वे सशस्त्र विद्रोह की आवश्यकता को ही नहीं मानते और हम मानते हैं। मुख्य और बुनियादी अन्तर यह है कि सभी कार्यक्षेत्रों में (पूँजीवादी संसदों, ट्रेड-यूनियनों, सहकारी समितियों, पत्रकारिता-कार्य, आदि में) वे एक असंगत, अवसरवादी नीति का, यहाँ तक कि खुल्लमखुल्ला दग़ाबाज़ी और ग़द्दारी की नीति का अनुसरण करते हैं।

['मज़दूर आन्दोलन में जड़सूत्रवाद और संकीर्णतावाद का विरोध' नामक संकलन (प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1986) में संकलित 'इतालवी, फ्रांसीसी और जर्मन कम्युनिस्टों को अभिवादन' शीर्षक निबन्ध-अंश से।]

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक व्यंग्य कविता सरकार और कला

1.
बेपनाह दौलत खर्च कर दी जाती है
अट्टालिकाएँ और स्टेडियम बनवाने पर।
ऐसा करते हुए
सरकार एक युवा चित्रकार की तरह काम करती है,
जो भूख की परवाह नहीं करता,
अगर नाम कमाने के लिए ऐसा करना पड़े।
वैसे भी, सरकार जिस भूख की परवाह नहीं करती
वह है दूसरों की भूख, जनता की भूख।

2.
चित्रकार की ही तरह, सरकार के पास तमाम तरह की
अलौकिक शक्तियाँ होती हैं,
और हालाँकि उसे कुछ बताया नहीं जाता,
वह सबकुछ जानती है। सरकार क्या कर सकती है,
यह सरकार ने नहीं सीखा है।
उसने कुछ भी नहीं सीखा है।
उसकी शिक्षा वाकई कमज़ोर है, फिर भी
वह हर चर्चा में दखल दे सकती है और
हर चीज़ का फ़ैसला कर सकती है।
उन चीज़ों का भी जिनके बारे में वह कुछ नहीं जानती।

3.
जैसा कि सब जानते हैं, कलाकार मूर्ख हो सकता है
और फिर भी महान कलाकार हो सकता है।
इस मामले में भी
सरकार कलाकार की तरह है। जैसा कि रेम्ब्रां के बारे में
कहा जाता है
कि अगर वह बिना हाथों के पैदा हुआ होता तो भी ऐसे
ही चित्र बनाता,
वैसे ही सरकार के बारे में भी कहा जा सकता है
कि अगर वह बिना सिर के पैदा हुई होती
तो भी ऐसे ही शासन करती।

4.
हम कलाकार की कल्पना पर रीझते हैं।
जब हम वर्तमान हालात का सरकार का वर्णन सुनते हैं,
तो हम कहते हैं कि उसके पास भी कल्पना की
कमी नहीं।
कलाकार आर्थिक मसलों के प्रति नफ़रत ही
दिखा सकता है
और सब जानते हैं कि सरकार के लिए भी अर्थव्यवस्था
नागवार ही होती है।
बेशक, सरकार के कुछ अमीर कद्रदान हैं, और
हर कलाकार की तरह
वह उनसे पैसे खींचने में लगी रहती है।

('जर्मन व्यंग्य' शृंखला से)

अनुवादः सत्यम

सुधार के नीमहकीमी नुस्ख़े बनाम क्रान्तिकारी बदलाव की बुनियादी सोच

● कात्यायनी

नीमहकीम वे होते हैं जो या तो रोग के लक्षणों को ही रोग समझ बैठते हैं या एकाध लक्षणों को ही टटोलकर रोग की जड़ तक पहुँचने का दावा करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला डॉक्टर रोग के ज़्यादा से ज़्यादा लक्षणों का पर्यवेक्षण करके उनका सामान्यीकरण करता है, सतह के सच को भेदकर तह तक पहुँचने की कोशिश करता है, अपने प्रारम्भिक नतीजों को पुष्ट करने के लिए पैथोलॉजिकल टेस्ट, एक्स-रे, अल्ट्रासोनोग्राफ़ी, एण्डोस्कोपी आदि-आदि वैज्ञानिक जाँचों का सहारा लेता है और फिर निदान सुझाता है। नीमहकीम सीधे-सादे नुस्ख़ों को अचूक रामबाण नुस्ख़ा बताते हैं। दु:ख-दर्द से परेशान भोले-भाले मरीज़ को उसकी बात झट से अपील करती है। इस तरह लम्बे समय तक वह एक से दूसरे नीमहकीम और ओझा-गुनी के पास घूमता रहता है।

वैज्ञानिकों और डॉक्टरों का रास्ता ओझा-गुनियों-फकीरों- नीमहकीमों से कठिन और लम्बा होता है। वह व्यापक पर्यवेक्षणों के सामान्यीकरणों के वैज्ञानिक सूत्रीकरण और फिर उनके प्रायोगिक सत्यापन का रास्ता होता है। विज्ञान का काम सतह के यथार्थ को भेदकर सारभूत यथार्थ तक पहुँचना होता है। आम आदमी वैज्ञानिक की बात तब सुनता है जब सारे सरल नुस्ख़ों की असलियत अपने अनुभव से जान जाता है, रोग गम्भीर हो जाता है, पीड़ा असह्य हो जाती है तथा रोग एवं उसके ग़लत-अधूरे इलाजों की अनुभव से उसकी चेतना उन्नत हो जाती है।

समाज-अर्थनीति और राजनीति के क्षेत्र में भी ऐसे नीमहकीमों की भरमार होती है जो कभी भ्रष्टाचार-उन्मूलन, कभी 'सादा जीवन उच्च विचार' की नैतिक शिक्षा, तो कभी जनसंख्या-नियंत्रण या सामाजिक-आर्थिक सुधार की किसी सीमित कार्रवाई के जरिए जनता की तमाम समस्याओं को हल करने का अचूक रामबाण नुस्ख़ा प्रस्तुत करते रहते हैं। जन्तर-मन्तर और रामलीला मैदान पर मजमा लगाकर व्यवस्था की तमाम बीमारियों के शर्तिया इलाज के दावे इनदिनों ख़ूब पेश किये जा रहे हैं। अख़बारों में, न्यूज़ चैनलों पर ऐसे नीमहकीमों की ख़ूब चर्चा है। 'सिविल सोसायटी' का साइनबोर्ड ख़ूब चमक रहा है।

फ़िलहाल ऐसे नीमहकीमों की भरमार है जो बता रहे हैं कि देश की सारी समस्याओं की जड़ भ्रष्टाचार है। यदि कमीशनख़ोरी, रिश्वतख़ोरी, कालाबाज़ारी, मिलावट, जमाख़ोरी आदि-आदि बन्द हो जाये, तो आम आदमी की सारी समस्याएँ सुलट जायें और देश प्रगति की राह पर चौकड़ी भरने लगे – ऐसा सोचने वाले तमाम लोग हैं। ऐसी सोच दरअसल रोग की जड़ तक पहुँचने के बजाय केवल ऊपरी लक्षणों का इलाज करने की कोशिश है। ये लोग मूल रोग की पहचान करने के बजाय, ज़्यादा से ज़्यादा कुछ दर्द निवारक दवाएँ सुझाते हैं। ऐसे लोगों को नेताओं, नौकरशाहों, इंजीनियरों आदि द्वारा की जा रही कमीशनख़ोरी-घूसख़ोरी से एतराज़ है। कमीशन और घूस देने वाली कम्पनियाँ और पूँजीपति मज़दूरों को जो लूटते-निचोड़ते हैं, उसपर एतराज़ नहीं है। भ्रष्टाचार की मात्रा कम या ज़्यादा हो सकती है, पर कोई भी पूँजीवादी व्यवस्था भ्रष्टाचार-मुक्त हो ही नहीं सकती। पूँजीवादी शोषण की मूल बीमारी रिश्वतख़ोरी-जमाख़ोरी-कमीशनख़ोरी-कालाधन-मिलावट-ख़ोरी आदि-आदि तमाम सहायक बीमारियों को 'बाईप्रोडक्ट' के रूप में जन्म देती है।

वैध लूट अवैध लूट को जन्म देती है। सफेद धन काले धन को जन्म देता है। स्वामी वर्ग तो पूँजीपति है, जिसका अस्तित्व ही श्रम के शोषण पर क़ायम है। नेता, नौकरशाह और उच्चपदस्थ बुद्धिजीवी उन्हीं के प्रबन्धक और चाकर हैं। लुटेरों के प्रबन्धक और चाकर कभी भी सात्विक और नैतिक भला क्यों होंगे? उन्हें भी जहाँ मौक़ा मिलता है, पैसा बनाते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए विलासितापूर्ण जीवन की गारण्टी कर लेना चाहते हैं।

सच्चाई यह है कि पूँजीवाद स्वयं में ही अपराध और भ्रष्टाचार है। यदि भ्रष्टाचार एकदम समाप्त हो जाये (जो कि असम्भव है) तो भी जबतक उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व रहेगा, जबतक श्रम की लूट जारी रहेगी, तबतक समाज में धनी-ग़रीब की बढ़ती खाई रहेगी, तबतक बेरोज़गारी बनी रहेगी, तबतक समाज में सबसे निचले पायदान पर खड़े लोग नर्क का जीवन जीने को अभिशप्त बने रहेंगे। पूँजीवाद चाहे जितना ईमानदार हो, हर माल के उत्पादन की प्रक्रिया में अतिरिक्त श्रम को लूटकर पूँजीपति मुनाफ़ा कमायेगा ही। इसके बिना पूँजी स्वयं को बढ़ा ही नहीं सकती और यदि वह ऐसा नहीं करेगी तो समाप्त हो जायेगी। मेहनतकशों को निचोड़कर, छोटे मालिकों को उजाड़ते रहकर, सड़कों पर बेरोज़गारों की भीड़ बढ़ाकर ही पूँजीवाद अपने को ज़िन्दा रख सकता है।

"भ्रष्टाचार मुक्त" पूँजीवाद भी सामाजिक असमानता मिटा नहीं सकता और सबको समान अवसर नहीं दे सकता। दूसरी बात यह कि पूँजीवाद कभी भ्रष्टाचारमुक्त हो ही नहीं सकता। जब भ्रष्टाचार का रोग नियन्त्रण से बाहर होकर पूँजीवादी शोषण-शासन की आर्थिक प्रणाली के लिए और पूँजीवादी जनवाद की राजनीतिक प्रणाली के लिए सिरदर्द बन जाता है, तो स्वयं पूँजीपति और पूँजीवादी नीति निर्माता ही इसपर नियन्त्रण के उपाय करते हैं। तमाम क़िस्म के राजनीतिक सुधारवादियों की जमातें बिना क्रान्तिकारी बदलाव के, व्यवस्था को दुरुस्त करने के लिए "भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन" करने लगती हैं। यह पूँजीवादी व्यवस्था की 'नियन्त्रण एवं सन्तुलन' की आन्तरिक यान्त्रिकी है। सुधारवादी सिद्धान्तकारों का शीर्षस्थ हिस्सा तो पूँजीवादी व्यवस्था के घाघ संरक्षकों का गिरोह होता है। उनके नीचे एक बहुत बड़ी नीमहकीमी जमात होती है जो पूरी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली का अध्ययन किये बिना कुछ यूटोपियाई हवाई नुस्ख़े सुझाती रहती है और जनता को दिग्भ्रमित करती रहती है। ऐसे लोगों की नीयत चाहे जो हो, वे पूँजीवाद के फटे चोंगे को रफू करने, उसके पुराने जूते की मरम्मत करने और उसके घोड़े की नाल ठोंकने का ही काम करते रहते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि और क्रान्तिकारी चेतना से लैस समाज के अग्रगामी दस्ते के लोग सामाजिक बीमारियों का इलाज वैज्ञानिक दृष्टि एवं पद्धति से ढूँढ़ते और बताते हैं। जो अपराध, भ्रष्टाचार, अनाचार और सामाजिक बुराइयाँ रोज़-रोज़ के जीवन में सतह पर दिखाई देती हैं, समाज वैज्ञानिक उनकी जड़ तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। वे यह समझने की कोशिश करते हैं कि तमाम सामाजिक अन्तरविरोधों में बुनियादी अन्तरविरोध क्या है, बुनियादी अन्तरविरोधों में प्रधान अन्तरविरोध क्या है और समय-विशेष में प्रधान अन्तरविरोध के दो पक्षों में कौन-सा पक्ष प्रधान है। वे समस्याओं की गाँठ खोलने के लिए कुंजीभूत कड़ी की तलाश करते हैं। वे हर समय में सामाजिक अन्तरविरोधों के कुंजीभूत संकेन्द्रण-बिन्दुओं का संधान करते हैं। जो समाज वैज्ञानिक क्रान्तिकारी होते हैं, वे परिस्थितियों का विश्लेषण मात्र नहीं करते रहते। उनके विश्लेषण का लक्ष्य परिस्थितियों को बदलना होता है और इसमें जनसमुदाय की सचेतन भूमिका को वे बुनियादी चीज़ मानते हैं। वे जनता को जागृत और शिक्षित करते हैं, उसकी राजनीतिक चेतना को उन्नत और सबल बनाते हैं और उसे संगठित होकर संघर्ष करना सिखाते हैं। क्रान्तिकारी पूँजीवादी व्यवस्था के हर अपराध के बारे में जनता को लगातार बताते हैं। वे मौजूद दुनिया से बुनियादी और गुणात्मक रूप से भिन्न, एक बेहतर दुनिया की आवश्यकता, सम्भावना और उस तक पहुँचने के रास्ते के बारे में लगातार बताते रहते हैं। वे पैबन्दसाज़ी के तमाम नीमहकीमी नुस्ख़ों की असलियत उजागर करते रहते हैं और यह बताते रहते हैं कि महज कुछ मात्रात्मक सुधारों और सतही बदलावों से जनता की समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं।

वे पूँजीवादी जनवाद के बारे में सुधारवादी बुद्धिजीवियों और मीडिया द्वारा फैलाये जाने वाले विभ्रमों का पर्दाफ़ाश करते रहते हैं। प्रचार और शिक्षा के साथ ही वे जनता को बुनियादी अधिकारों और रोज़मर्रे की समस्याओं को लेकर संघर्ष करने के लिए संगठित करते हैं। पूँजीवादी जनवाद के सिद्धान्त जनता के जिन अधिकारों और सरकार के जिन कर्तव्यों का निरूपण करते हैं (जिनके प्रति पूँजीवादी संसदीय राजनीतिज्ञ अपनी वचनबद्धता दुहराते रहते हैं), पूँजीवादी जनवादी संविधान जनता से जो वायदे करता है और सरकार काग़ज़ों पर जो क़ानूनी अधिकार देती है, उन्हीं को अमल में लाने की माँग से जनता अपने संघर्षों की शुरुआत करती है। संघर्षों का दबाव सत्ताधारियों को कुछ माँगें मानने के लिए बाध्य करता है, लेकिन कोई भी पूँजीवादी जनवादी सत्ता अपने सभी वायदों को कभी पूरा नहीं करती। इसके उलट, संघर्षों का दबाव बढ़ते ही उसका दमनकारी चरित्र नग्न-निरंकुश होता चला जाता है, वर्गीय अधिनायकत्व की सारवस्तु सतह पर आ जाती है और जनवाद की लफ़्फ़ाजियाँ ताक पर धर दी जाती हैं। जनता व्यावहारिक अनुभव से पूँजीवादी व्यवस्था की असलियत जान जाती है। पूँजीवाद अपने शासन के लिए जो वैधता और स्वीकार्यता हासिल किये रहता है, वह तार-तार हो जाती है। व्यवस्था के सीमान्तों को देख-समझ लेने के बाद जनता उनके अतिक्रमण के बारे में सोचने लगती है। वह एक वैकल्पिक, न्यायपूर्ण सामाजिक ढाँचे के निर्माण के बारे में सुनने-समझने के लिए ज़्यादा तैयार हो जाती है। क्रान्ति उसके लिए एक व्यावहारिक सम्भावना बन जाती है।

यदि वस्तुगत परिस्थितियाँ तैयार हों (व्यवस्था के संकट घनीभूत हों), उत्पीड़ित जनसमुदाय को नेतृत्व देने वाली हरावल शक्तियाँ तैयार हों, सामाजिक अन्तरविरोधों और संघर्ष की दिशा एवं रास्ते का उनका वैज्ञानिक आकलन सटीक हो, सतत क्रान्तिकारी प्रचार के साथ वे जनता को उन्नत से उन्नततर धरातल के संघर्षों में नेतृत्व देने में सफल हों (यह सीधी रेखा में नहीं होगा, बेशक़ बीच-बीच में उतार और ठहराव के दौर भी आयेंगे), तो निश्चय ही क्रान्तिकारी परिवर्तन की सम्भावना को वास्तविकता में रूपान्तरित किया जा सकता है। चीज़ों को बदलने के लिए चीज़ों को समझना होता है। बदलने की प्रक्रिया के दौरान भी समझ बनती-बदलती चलती है। चीज़ों को बदलते हुए लोग स्वयं को भी बदलते हैं। भावी नये समाज का केन्द्रीय संघटक तत्व – नया मनुष्य भी क्रान्तिकारी बदलाव के दहन-पात्र में ढलता रहता है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006